जैन सिद्धान्त भास्कर

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. 45 DECEMBER, 1992 No. 1-2

श्री देवकुमार जैन ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट,
आरा (बिहार)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पंचामृत अभिषेक पाठ

श्रीमत् जिनेन्द्र प्रभु पूज्य त्रिलोक ईश, स्याद्वाद नीति देकर दी शुद्ध दृष्टि ।
श्री मूलसंघ अनुसार सुकर्म हेतु, जैनेन्द्र यज्ञ-अभिषेकित कर रहा हूँ ॥१॥

भक्ति-विभोर मैं हूँ कवि कल्पना से, इन्द्राभिषेक सम भाव बना रहा हूँ ।
करिए क्षमा प्रभु हमें हम स्वल्प बुद्धि, व्यवहार से रतन-त्रय मैं भा रहा हूँ ॥२॥

(जिन चरणों में पुष्पाञ्जलि)

श्री सम्पन्न मेरू पर्वत से लाकर के पवित्र जल से,
पीठ पद्म को प्रक्षालित कर, जिन प्रभु को स्थापित करके ।
इन्द्र बना मैं धारण कर प्रभु चरण कमल की माला,
मुंदरी कँकण मुकुट पहन लेकर सुभक्ति की थाला ॥३॥

(चन्दन से तिलक आदि करना)

क्षीर समुद्र जल के शुचिमय प्रवाह से, प्रक्षाल कर चुके इन्द्र अनेक बार ।
अत्यन्त उन्नत उसी जिन पाद पीठ को, प्रक्षाल हम कर रहे भव ताप हारि ॥४॥

(पीठ प्रक्षालन)

'श्री' शारदा सुमुख घोषित बीज वर्ण, 'श्री' मंगलीक है नित्य सभी जनों का ।
'श्री' शब्द सुन्दर स्वयं, भय नाशकारी, 'श्री' कार-वर्ण लिखते जिन पीठ ऊपर ॥५

(श्रीकार लेखन)

श्री पाण्डुकामलशिला पर आदि देव, का स्नान था किया इन्द्र सुमेरु गिरि पर।
कल्याण इच्छुक लिये जल पुष्प अक्षत, स्थापन करें सुप्रतिमा जिन देव प्रभु की ॥६

(श्री वर्ण पर प्रतिमाजी की स्थापना)

सत् पल्लवों से भर के ले चार कलश, ताम्बा, सुवर्ण, और रौप्य-बने सुजल-भर ।
संस्थापना कर कलश की जिन पीठ ऐसे, मानों लगें सभी कोण समुद्र जैसे ॥७

(कलश स्थापना)

दूरी रही पर हुए जो चरण धूसर, इन्द्रादि के मुकुट को किरणच्छवि से ।
प्रस्वेद ताप मल है जिनके नहीं कुछ, ऐसे जिनेन्द्र प्रभु का अभिषेक करते ॥८॥

(ॐ ह्रीं.......................जल से अभिषेक करता हूँ)

....कवर-३

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन सिद्धान्त भास्कर

जैनपुरातत्व सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

वि० सं० २०४९ वीर निर्वाण सं० २५१९

दिसम्बर १९९२

भाग-४५ किरण १-२

सम्पादक मण्डल

डॉ० राजाराम जैन डॉ० गोकुलचन्द्र जैन

डॉ० आदित्य प्रचण्डिया डॉ० शशिकान्त

सम्पादक

डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

डॉ० ऋषभचन्द्र फौजदार

प्रकाशक

अजयकुमार जैन, मंत्री

श्री देवकुमार जैन ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट

श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार)

वार्षिक शुल्क-भारत में-५०/- विदेश में-७५/-

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विषय-सूची

		पृष्ठ
	सम्पादकीय	
१.	भाषा और विचारों की सम्प्रेषणीयता : जैन अवधारणा —डॉ० कमलेश जैन	१
२.	चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ शान्तिसागर जी महाराज : संस्मरण और श्रद्धांजलि —ब्र० चन्दाबाई जी	८
३.	सांस्कृतिक अनुसन्धान में जैन सिद्धान्त भवन आरा का अवदान —डॉ० ऋषभचन्द्र जैन फौजदार	११
४.	श्वेताम्बराचार्य विजयधर्मसूरि जी का आरा प्रवास —सुबोधकुमार जैन	२२
५.	जैनधर्म में कालगणना —गणेशप्रसाद जैन	२५
६.	जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा —डॉ० (श्रीमती) सुनीता जैन	२८
७.	महावीर स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे —डॉ० शैलेन्द्रकुमार रस्तोगी	३२
८.	एरण में तोरमान उल्लेख —अभयप्रकाश जैन	३४
९.	सरस्वती भवन की प्राचीन जैन मूर्त्तियाँ —डॉ० महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'	३६
१०.	मगध और जैन संस्कृति —सुभाषप्रसाद	४१
११.	आदिपुराण कालीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक विश्लेषण —श्रद्धानन्द प्रसाद शर्मा	४४
१२.	जैन सिद्धान्त भवन–आरा का ८९वाँ वार्षिक प्रतिवेदन —अजयकुमार जैन	४७
१३.	पुरस्कार सम्मान प्राप्ति के उपलक्ष्य में —डॉ० राजाराम जैन	५०
१४.	परस्परोपग्रहो जीवानाम् —उपाध्याय श्री कनकनन्दी जी महाराज	५३
१५.	उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित जीव की अवधारणा —डॉ० महेन्द्रनाथ सिंह	६१
१६.	जगन्मोहन लाल शास्त्री सम्मानित	६६
१७.	राष्ट्रसन्त उपाध्याय अमर मुनिजी	६९
१८.	वाराणसी का ऐतिहासिक भित्तिलेख	७२
१९.	साहित्य-समीक्षा	७५

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सम्पादकीय

शास्त्र सम्पदा की रक्षा करें

प्राचीन पाण्डुलिपियाँ जैनधर्म और संस्कृति की बहुमूल्य धरोहर हैं। उनकी सुरक्षा करना समाज का दायित्व है। आचार्यों ने साधना करके श्रुतदान को अपने अंतर में उतारा। उन्होंने लम्बे समय तक श्रुतधारा को अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित किया। काल के प्रभाव से आचार्यों की स्मृति प्रभावित होने लगी। अब उनके सामने श्रुत की सुरक्षा का प्रश्न आया। वे चिन्तित हुए। लेखन प्रारंभ होने लगा। साधन अत्यल्प और दुष्प्राप्य थे किन्तु संकल्प प्रबल था। अतः सब संभव हुआ। शिलाखण्ड, ताम्रपत्र, वस्त्र, भोजपत्र, ताडपत्र तथा हस्तनिर्मित कागज पर शास्त्र लेखन आरंभ हुआ। इस प्रकार श्रुत की विलुप्त होती हुई परंम्परा बच सकी।

जैन परंपरा में शास्त्रों का विशेष महत्व है। यहां स्वाध्याय को परम तप कहा गया है। स्वाध्याय के लिए शास्त्र आवश्यक है। हमारे पुरखों ने शास्त्र स्वयं लिखे। दूसरों को लिखने के लिए प्रेरित किया। अपना धन व्यय करके शास्त्र लेखन कराया। प्रचार-प्रसार के लिए शास्त्र एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजे। शास्त्र भंडार स्थापित किये। अन्य धर्मात्माओं को प्रेरणा देकर उनसे शास्त्र-भंडार स्थापित कराये। उनके लिए शास्त्रों की व्यवस्था की। चार प्रकार के दानों में शास्त्रदान का विशेष स्थान है। शास्त्रदान में कौण्डेश का उदाहरण हमें ज्ञात है।

शास्त्रदान पुण्य का प्रमुख कारण माना गया है। इसीलिए एक-एक शास्त्र की अनेक प्रतिलिपियां करायी जाती थीं। श्रावक जन, राजे-महाराजे या श्रेष्ठिजन पुण्य लाभ के लिए शास्त्र लिखवाते थे और उन्हें अनेक शास्त्रभंडारों तथा मन्दिरों में सुरक्षित रखवाते थे। इससे उनका पुण्यार्जन होता था। और पारम्परिक शास्त्रों की सुरक्षा होती थी। धन का सदुपयोग भी होता था। दक्षिण भारत की एक धर्मात्मा नारी अत्तिमब्बे ने पोन्नकृत शान्तिपुराण की एक हजार प्रतियां हस्तलिपि में तैयार कराकर वितरित करायी थीं। यह पुण्य कार्य उसने अपना धन व्यय करके किया था। उस देवी ने सुवर्ण और रत्ननिर्मित डेढ़ हजार जिन मूर्तियां भी बनवाकर प्रतिष्ठित करायी थीं।

सातिशय महत्त्व के कारण समाज के प्रायः प्रत्येक वर्ग ने शास्त्र संग्रह किया। उदाहरण स्वरूप साधुओं के संग्रह, भट्टारकों के संग्रह, मठों के संग्रह, मन्दिरों के संग्रह, राजाओं के संग्रह, श्रेष्ठियों के संग्रह तथा सामान्य श्रावकों के संग्रह आज भी प्राप्त होते हैं। प्रत्येक प्राचीन जिनमन्दिर में शास्त्रों की सैकड़ों प्राचीन पाण्डुलिपियां उपलब्ध हैं। शायद ही कोई ऐसा जिनमन्दिर होगा, जिसमें पाण्डुलिपियां न हों। किसी-किसी मन्दिर में तो इनकी संख्या हजारों में है। किन्तु अधिकांश शास्त्र भंडारों में इनकी समुचित देख-रेख नहीं हो पा रही है। कहीं इन्हें चूहे खा रहे हैं तो कहीं दीमक चाट रहे हैं। कहीं चोरी-छिपे पूरा शास्त्र या उनका महत्वपूर्ण अंश बेचा जा रहा है। यह गंभीर चिन्ता का विषय है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

भारत एक ऐसा देश है, जिसे पाण्डुलिपियों का देश कहा जाता है। क्योंकि यहां विश्व की सर्वाधिक पाण्डुलिपियां सुरक्षित हैं। भारत की इस अमूल्य सम्पदा से विदेशी लोग बहुत प्रभावित रहे हैं, वे मांगकर, छीनकर तथा अपना धन व्यय करके भारत से पाण्डुलिपियां अपने-अपने देश ले जाते रहे। और उन्हें विशेष व्यवस्था में सुरक्षित किया। आज ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में लाखों भारतीय पाण्डुलिपियां उपलब्ध हैं और वहां वे भारत से बेहतर सुरक्षित तथा व्यवस्थित हैं। अनुसन्धान के लिए उनकी प्रतिलिपियां प्राप्त करना सरल है। किन्तु इसके विपरीत अपने ही देश के सरकारी-गैरसरकारी और व्यक्तिगत संग्रहों से अनुसन्धान हेतु पाण्डुलिपि, उसकी जीराक्स प्रति या माइक्रोफिल्म प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में प्राकृत एवं जैनागम विभाग के अध्यक्ष प्रो० गोकुलचन्द्र जैन ने प्राचीन पाण्डुलिपियों की खोज, उनके सम्पादन और संरक्षण पर विशेष बल दिया। उन्होंने विभाग में अपने सहयोगी अनुसन्धाता विद्वानों-विशेषकर मेरे, डा० महेन्द्र कुमार जैन, डा० श्रीमती सुनीता जैन, तथा डा० कमलेश जैन के द्वारा दिल्ली, राजस्थान, गुजरात, कच्छ, मालवा, बुन्देलखण्ड, उत्तर प्रदेश तथा बिहार के शताधिक शास्त्र भंडारों का सर्वेक्षण कराया है। यह सर्वेक्षण विशेषकर आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों को ध्यान में रखकर किया गया है। इसमें पांच सौ से अधिक प्राचीन पाण्डुलिपियों की जानकारी मिली है। विभाग ने अपने सीमित साधन-सुविधाओं में भी विशेष महत्व की पाण्डुलिपियों की जीराक्स प्रतियां क्रय की हैं।

हम प्रतिदिन देव दर्शन करते हैं। देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करते हैं। अर्घ चढ़ाते हैं। किन्तु हमारी यह दैनिक क्रिया केवल जिन प्रतिमा तक ही सीमित है। मन्दिर में ही सुरक्षित, विराजमान शास्त्रों की ओर हमारा ध्यान तक नहीं जाता। न ही हमारे समाज की ओर से इसकी सुरक्षा के लिए कोई गंभीर प्रयत्न हो रहे हैं। जो प्रयास हो भी रहे हैं वे इतने बौने हैं कि उनसे विशेष लाभ नहीं हो पा रहा है। समाज पर अनेक जिम्मेदारियां हैं। मन्दिर, शास्त्र भंडार एवं गुरुओं की सुरक्षा तथा संवर्द्धन समाज का प्रमुख कर्त्तव्य है। इसके लिए समाज की विभिन्न इकाईयों विशेष कर अब युवा पीढ़ी को आगे आना चाहिये। इस अनमोल धरोहर की सुरक्षा के लिए क्रान्तिकारी कदम उठाने का संकल्प करना चाहिये। युवापीढ़ी को समाज के अनुभवी बुजुर्गों का, विद्वानों का और साधु संस्था का विशेष मार्ग-दर्शन मिलना चाहिये।

—ऋषभचन्द्र फौजदार

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

भाषा और विचारों की सम्प्रेषणीयता : जैन अवधारणा

—डॉ० कमलेश जैन

भाषा विचार-सम्प्रेषण का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। भाषा और विचारों का सम्बन्ध अटूट है। प्राणी जगत् में मनुष्य को भाषा सर्वश्रेष्ठ अवदान के रूप में प्राप्त है। इसीलिए मनुष्य हजारों-हजार वर्षों की सांस्कृतिक विरासत को भाषा के माध्यम से सुरक्षित रख पाया। और एक से दूसरी पीढ़ी को विरासत में देता आया।

भारतीय मनीषियों ने भाषा के स्वरूप, उत्पत्ति, प्रक्रिया एवं उसके अर्थ-सामर्थ्य पर सूक्ष्मता एवं विस्तारपूर्वक विचार किया है। इसी के फलस्वरूप भारतीय चिन्तन में अक्षर-ब्रह्म जैसे सिद्धान्त प्रतिफलित हो सके।

मानव अपने भावों-विचारों की अभिव्यक्ति के लिए जिस व्यक्त-स्पष्ट वाणी का उपयोग करता है, उसे भाषा कहते हैं। भाषा की मूल इकाई शब्द है। शब्दों से वाक्य बनते हैं। और वाक्यों के सार्थक सुसंगठन से भाषा बनती है। भाषा का प्रारम्भिक रूप बोली है। बोली और भाषा द्वारा व्यक्ति विचार सम्प्रेषित करता है। और इन दोनों का विकास साहित्य में होता है। मनुष्य जिस वातावरण में रहता है, वह अपनी सुविधा एवं सुगमता के अनुसार बोलियों और भाषाओं का विकास करता है। जिस बोली और भाषा का बहुत से व्यक्ति बहुत समय तक प्रयोग करते रहते हैं, वह कुछ समय के लिए किन्हीं विशेष ध्वनियों एवं किन्हीं विशेष रूपों पर आश्रित हो जाती है। वैयाकरण उसका व्याकरण निर्मित करता है। साहित्यकार उसमें साहित्य रचना करता है। परन्तु जनसाधारण व्याकरण या साहित्य से अनुशासित नहीं होता। वह स्वतन्त्रता पूर्वक बोली और भाषा का प्रयोग करता है। इससे प्राचीन रूपों में परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रक्रिया द्वारा साहित्यिक भाषा और जनबोलियों का विकास होता चला जाता है। और विचारों की सम्प्रेषणीयता के माध्यमों में परिवर्तन होता रहता है।

पाणिनि ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा है—"आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों को समझकर मन को बोलने की इच्छा से प्रेरित करता है। मन शरीर की अग्नि शक्ति पर जोर डालता है और वह शक्ति वायु को प्रेरित करती है, जिससे शब्द-वाक् उत्पन्न होता है।"

आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥

—पाणिनीय शिक्षा, श्लोक ६

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य के विकास के साथ-साथ वाणी का भी विकास हुआ है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैनदर्शन शब्द को पौद्‌गलिक मानता है। शब्द भाषावर्गणा के पुद्‌गलों का एक विशिष्ट प्रकार का परिणमन है। ध्वनि रूप में परिवर्तित होने योग्य पुद्‌गल परमाणु रूप ये भाषावर्गणाएँ लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं। इसलिए शब्द उत्पाद्य है। परिणामी नित्य है और कृतक है। अर्थात् शब्द उत्पन्न किया जाता है—"परिणामी शब्दः, कृतकत्वात्।"—परीक्षामुख ३-६१। यह कृतक हेतु शब्द की अनित्यता सिद्ध करता है। इस अवधारणा के आधार पर जैन मनीषियों ने भाषा विषयक विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—शब्द स्कन्ध जन्य है। स्कन्ध परमाणु दल का संघात है। उन स्कन्धों के परस्पर घर्षित होने पर शब्द उत्पन्न होता है। इसलिए वह शब्द नियत रूप से उत्पाद्य है और भाषा, ध्वनि आदि के रूप में पुद्‌गल का एक विशिष्ट पर्याय है—

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो॥
—पंचास्तिकाय, गाथा ७९।

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो॥
—प्रवचनसार, गाथा २-४०।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि भाषा शरीर से उत्पन्न या अभिव्यक्त होती है। दूसरे शब्दों में, भाषा जीव के शारीरिक प्रयत्नों का परिणाम है—"भासा णं भंते किं पवहा? गोयमा। सरीरप्पभवा भासा।"—प्रज्ञापना, भाषापद ११-१५। शब्द दो प्रकार के होते हैं—१. प्रायोगिक शब्द और २. वैस्रसिक शब्द। भाषा प्रायोगिक शब्दों से ही बनती है, वैस्रसिक शब्दों से नहीं। —सर्वार्थसिद्धि ५-२४।

विचार सम्प्रेषण की प्रक्रिया पर विचार करते हुए जैन दार्शनिकों का कथन है कि वक्ता जब अपने विचारों या भावनाओं को अभिव्यक्त करना चाहता है तो इसका क्रियान्वयन मन, वचन और शरीर त्रय के योग से होता है। सर्वप्रथम मनोयोग (मनस्) सक्रिय होता है। मन के सक्रिय होने से वचनयोग (वाक्) सक्रिय होता है। वाक् के सक्रिय होने पर काययोग (शरीर) सक्रिय होता है। शरीर के सक्रिय होने पर वक्ता का स्वरयंत्र भाषावर्गणा के परमाणुओं को ग्रहण करता है फिर उन परमाणुओं को भाषा रूप में परिणित करता है। दूसरे शब्दों में, उन्हें विशिष्ट शब्द ध्वनियों के रूप में परिवर्तित करता है और अन्त में उन ध्वनिरूपों का उत्सर्जन करता है, उन्हें बाहर निकालता है। वे ध्वनि रूप में बाहर निकाले गये भाषायी पुद्‌गल परमाणु आकाश में ध्वनि तरंग के रूप में प्रसरित होते हैं, ये ध्वनि तरंगें प्रसरणशील होती हैं। यह प्रसरण प्रक्रिया भी वीचितरंगन्याय की भाँति घटित होती है। जिस प्रकार जलाशय में फेंके गये एक पत्थर से प्रकम्पित जल में, पत्थर फेंकने के वेग के आधार पर, उत्पन्न तरंगें अपने समीपस्थ जल को क्रमशः तरंगित करते हुए जलाशय के तट तक पहुँच जाती

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

हैं, उसी प्रकार शब्द-ध्वनियाँ भी लोकान्त तक पहुँच जाती हैं। शब्द की यह लोकान्तगामी शक्ति आज के परिपेक्ष्य में गम्भीरता से विचारणीय है, क्योंकि सामान्यतः हम शब्द को ध्वनि-बल के अनुसार कम या अधिक क्षेत्र में मर्यादित पाते हैं, किन्तु आज विज्ञान भी जब हजारों वर्ष पहले बोले गये शब्दों की स्थिति इस ब्रह्माण्ड में मानता है, और उसके संग्रह के प्रयत्न किये जा रहे हैं, तब जैनदर्शन की यह मान्यता विचारणीय है। —जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष ४, पृ० ३, जैनदर्शन-प्रो० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य, "भासा लोगंतपज्जवसिया पण्णत्ता।"—प्रज्ञापना, भाषापद १५। लेकिन ध्वनि प्रसरण की क्षमता वक्ता की शक्ति पर निर्भर करती है। कुछ ध्वनि तरंगें वक्ता के स्वरयंत्र से निकलकर सुदूर तक श्रव्य होती हैं और कुछ थोड़ी दूर जाकर ही अश्रव्य बन जाती हैं। अत एव सभी शब्द लोकान्त तक श्रव्यरूप में ही पहुँचें, यह आवश्यक नहीं है। यह तो उनकी निःसरण रूप वेग शक्ति पर निर्भर करता है।

शब्द में अपने वाच्यार्थ को संकेतित करने की शक्ति किस रूप में होती है। शब्द किस प्रकार अर्थ ग्रहण करता है, ये दो दार्शनिक जगत् के महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। इस सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ प्रसिद्ध हैं—१. अभिहितान्वयवाद और २. अन्विताभिधानवाद। प्रथम के अनुसार शब्द में अपने वाच्यार्थ को संकेतित करने की स्वाभाविक शक्ति होती है। प्रत्येक शब्द अपने वाच्य विषय से अनादि से सम्बन्धित है और उस शब्द के उच्चारण से वह वाच्य विषय संकेतित हो जाता है। लेकिन इसके विपरीत दूसरी विचारधारा यह है कि शब्द में अपने वाच्यार्थ या वाच्य विषय को संकेतित करने की शक्ति स्वाभाविक नहीं होती, अपितु शब्द में अर्थ का आरोपण किया जाता है। शब्द रूढ़ि, परम्परा या प्रयोग से अपने वाच्यार्थ को प्राप्त करता है। शब्द में अर्थ निहित नहीं होता, अपितु शब्द को अर्थ दिया जाता है अर्थात् शब्द प्रयोग से अपना अर्थ प्राप्त करता है।

परन्तु जैन दार्शनिकों ने उपर्युक्त दोनों ही विचारधाराओं को एकांगी माना है। यहाँ पर वे दोनों ही मान्यताओं को समन्वित रूप में स्वीकार करते हैं। जैनों के अनुसार शब्द और उनके वाच्य विषय (वाच्यार्थ) का निर्धारण किसी ऐकान्तिक आधार पर निर्भर नहीं होता। क्योंकि अनेक शब्दों के अर्थ उनके धात्वर्थ से फलित होते हैं और अनेक शब्दों को उनके अर्थ समाज, परम्परा या प्रयोग से प्राप्त होते हैं। कुछ शब्द व्युत्पत्ति-परक होते हैं तो कुछ रूढ़ार्थी। इसलिए जैन दार्शनिकों के अनुसार शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण तीन सिद्धान्तों के आधार पर होता है—१. स्वाभाविक शक्ति, २. संकेत और ३. समय, परम्परा या प्रयोग। शब्द में अपने वाच्यार्थ को संकेतित करने की शक्ति है जो उसे परम्परा या प्रयोग से प्राप्त होती है। और उसी के द्वारा वह अपने वाच्य विषय को संकेतित करता है—स्वाभाविक-सामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्द इति। —प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ४-११।—जैन भाषा-दर्शन, पृ० ३८ आदि।

इस प्रकार जैन दार्शनिक अभिहितान्वयवाद की इस मान्यता से सहमत हैं कि पदों का वाक्य से स्वतन्त्र अर्थ भी होता है, साथ ही वे यह भी स्वीकारते हैं कि वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद अपना अर्थबोध कराने के लिए अन्य पदों पर आश्रित होता है, अर्थात् वाक्य में प्रयुक्त पद

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

परस्पर अन्वित होते हैं। और पूरा वाक्य सुनने के बाद ही हमें वाक्यार्थ का बोध होता है। अत एव वाक्य में पद परस्पर अन्वित या सापेक्ष ही होते हैं, निरपेक्ष नहीं, क्योंकि निरपेक्ष पदों से सार्थक वाक्य रचना ही संभव नहीं हो सकती।

इस प्रकार जैन मनीषियों ने भाषा को विचार सम्प्रेषण का एक माध्यम मात्र माना। उन्होंने देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप जनभाषा को विचार सम्प्रेषण का माध्यम बनाया। उपदेश के लिए और साहित्य रचना के लिए वे किसी एक भाषा विशेष से नहीं बँधे। और न किसी भाषा को पवित्र या अपवित्र माना। जिस क्षेत्र में गये उस क्षेत्रीय बोली और भाषा को अपने उपदेश और साहित्य रचना का माध्यम बनाया। यही कारण है कि जैन मनीषियों द्वारा विभिन्न प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं में रचित साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध है। तथा अधुनातन भाषाओं में साहित्य रचना अजस्र रूप में प्रवहमान है।

भाषा को विचारों की सम्प्रेषणीयता का माध्यम बनाने के प्रयोग प्राचीनकाल से बदलते रहे हैं। कालक्रम से ऐसे अनेक प्रयोग दिखाई देते हैं, जो स्पष्ट करते हैं कि विचार सम्प्रेषण का माध्यम तत्-तत् युगीन लोकभाषाएँ रही हैं। वैदिक साहित्य में भी लोकभाषा के तत्त्व विद्यमान हैं। ऋग्वेद और विशेषतः अथर्ववेद की भाषा में उक्त जनभाषा के बीज-सूत्रों को प्राप्त किया जा सकता है। —प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ १०।

भाषा की अर्थवत्ता और सम्प्रेषणीयता का आधार उसका जनक और प्रयोक्ता है। शब्द की अर्थवत्ता उसके जनक पुरुष के सामर्थ्य पर आधृत है। यदि वक्ता आप्त–यथार्थ वक्ता--पुरुष है तो उसके शब्द स्वतः प्रमाण हैं, अन्यथा नहीं। कथन की प्रामाणिकता का आधार युक्ति और आगम हैं। इस प्रकार भाषा के सामर्थ्य में उसका प्रयोगकर्त्ता महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति जितनी अधिक विकसित सामर्थ्य वाला होता है, उसमें भाषा वर्गणा के पुद्गलों को भाषा के रूप में परिणित करने की शक्ति भी अधिक होती है, उसी तरह लिखित एवं उच्चरित शब्दों से अर्थबोध करने की शक्ति भी उतनी ही अधिक होती है। इस तरह की भाषा की सम्प्रेषणीयता व्यक्ति के दैहिक और बौद्धिक विकास पर निर्भर करती है।

भाषा, विचार-सम्प्रेषण और जनसामान्य, ये तीनों परस्पर घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं। यदि विचारों को जन-सामान्य तक पहुँचाना अभीष्ट है तो जन-सामान्य की भाषा को सम्प्रेषणीयता का माध्यम बनाना भी आवश्यक है। भारत में प्राचीन काल से ही शिष्ट और जन-सामान्य की भाषा का समानान्तर प्रयोग होता रहा है। प्रत्येक क्षेत्र की अपनी आँचलिक देश-भाषा रही है। भरत मुनि ने अपने नाटयशास्त्र में सात देश भाषाओं का उल्लेख किया है— मागधी, अवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाल्हीका, दाक्षिणात्या। ये सातों भाषाएँ विभिन्न क्षेत्रों की कथ्य भाषाएँ रहीं हैं—

मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरशेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्त्तिताः॥

—नाटयशास्त्र १८/३५-३६

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रत्येक अँचल में उस-उस देश की भाषा ही विचार सम्प्रेषण का माध्यम बनती है। जैन मनीषियों ने इस महत्ता को पूर्ण रूप से आत्मसात् किया।

तीर्थंकर महावीर एवं तथागत बुद्ध ने भी भाषा की इस महत्ता एवं उपयोगिता को नया आयाम दिया। उन्होंने जन भाषाओं को अपने विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। भाषा वैज्ञानिकों ने बुद्ध के उपदेशों की भाषा को मागधी नाम दिया है। महावीर के उपदेशों की भाषा अर्धमागधी कही जाती है। कहा गया है कि अर्धमागधी में अट्ठारह देश भाषाएँ सम्मिलित थीं—"अट्ठारसदेसीभासानिययं वा अद्धमागहं।"—उद्धृत, प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३५।

बुद्ध के उपदेश 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' के लोक कल्याणकारी लक्ष्य को रखकर होते थे। सम्राट् अशोक ने इसी कारण अपने धर्मलेख उन-उन क्षेत्रीय भाषाओं में उत्कीर्ण करवाये। यही कारण है कि विभिन्न क्षेत्रों में पाये जाने वाले धर्मलेखों में भाषागत भिन्नता दिखाई देती है। ये शिलालेख स्पष्ट करते हैं कि प्राकृत भाषा का जनता में प्रचार था, जनता इसका उपयोग करती थी। इसीलिए शिलालेखों, सिक्कों और राजाज्ञाओं में सर्वदा जनभाषा—प्राकृत का प्रयोग किया गया है। अशोक के लगभग ३० शिलालेख प्राप्त होते हैं, जिनमें धर्माज्ञाएँ प्रचारित की गयीं हैं। इनमें से १४ धर्मलेख हैं, जो शाहबाजगढ़ी (पेशावर जिला), मंसेहरा (जिला हजारा), गिरनार (जूनागढ़), सोपारा (जिला थाना), कालसी (देहरादून), धौली (जिला पुरी), जौगढ़ (गंजाम जिला) और इरागुडी (निजाम रियासत) से प्राप्त हुए हैं। इन धर्मलेखों में तत्कालीन प्राकृत भाषाओं के रूप, प्रादेशिक एवं कालभेद भी दिखाई देते हैं। इन सभी लेखों की लिपि ब्राह्मी और खरोष्ठी मानी गयी है। मूलतः इन शिलालेखों की शैली एक ही प्रकार की है, परन्तु देश भेद के कारण उनकी भाषा में भी भेद है। —प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४९-५०।

जैन श्रमण आचारशास्त्रीय नियमों के कारण भ्रमणशील रहे हैं। वे पद यात्रा करते हुए एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में विहार करते तथा जन-सामान्य के कल्याण के लिए उपदेश देते थे। उपदेशों के लिए उन्होंने तत्-तत् प्रदेश की भाषा को माध्यम बनाया, जिससे लोक कल्याण के लिए अपने विचार जन-सामान्य तक सम्प्रेषित कर सकें।

अर्धमागधी के समानान्तर जिन प्राचीन क्षेत्रीय भाषाओं में लिखित साहित्य उपलब्ध है, उसमें शौरसेनी तथा महाराष्ट्री विशेष उल्लेखनीय हैं। संभवतया इनके नामकरण भी क्षेत्रीय आधार पर बाद में किये गये। प्राच्य जन भाषाएँ-मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी आदि भी जब साहित्यारूढ़ होकर व्याकरण की जटिलताओं से वेष्टित होने लगीं तब इनका जो विभिन्न रूपों में विकास हुआ, उसे अपभ्रंश नाम दिया गया। अपभ्रंश प्राकृत तथा नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। अपभ्रंश युग में जैन मनीषियों ने अपभ्रंशों को साहित्य रचना का माध्यम बनाया। उत्तर काल में जब अपभ्रंश भी साहित्यिक जटिलताओं से बँधने लगी, तब विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं का विकास हुआ और उन्हें ही आचार्यों ने अपने विचार

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सम्प्रेषण का माध्यम बनाया। यही कारण है कि उत्तर भारत में जूनी-गुजराती, पुरानी राजस्थानी में लिखित साहित्य प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। इधर मगही, मराठी आदि भाषाओं में साहित्य रचना हुई। वहीं पूर्व में बंगला तथा दक्षिण में कन्नड, तमिल, तेलगु, मलयालम आदि भाषाओं को साहित्य रचना का माध्यम बनाया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत की विभिन्न भाषाओं में जैन मनीषियों द्वारा विभिन्न विधाओं में लिखा हुआ साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध है।

भाषा वैज्ञानिकों ने महावीर के समय से लेकर आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास को मध्य भारतीय आर्यभाषाएँ तथा नव्य भारतीय आर्यभाषाएँ जैसे नाम दिये हैं। नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में दक्षिण की सभी भाषाओं का समावेश नहीं होता, इसलिए यह कहना उचित होगा कि जैन मनीषियों ने भाषा को विचारों की सम्प्रेषणीयता के माध्यम के रूप में स्वीकार किया। यही कारण था कि वे किसी एक भाषा से नहीं बँधे। अधिक से अधिक जन-सामान्य तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिए जन-भाषाओं को उन्होंने सर्वाधिक महत्त्व दिया, तथापि परिनिष्ठित भाषाओं से भी किसी प्रकार का परहेज नहीं किया और उनमें भी बड़ी मात्रा में साहित्य रचना की।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भाषा के प्रयोग एवं विचार सम्प्रेषण के विषय में जैन दार्शनिकों का दृष्टिकोण व्यापक रहा है। सर्वप्रथम उन्होंने भाषा का पौद्‌गलिकत्व स्वीकार किया और उसे शारीरिक प्रयत्नों का परिणाम माना। इससे उसे एक वैज्ञानिक आधार प्राप्त हुआ। विचार सम्प्रेषण का माध्यम बनाने में भी जैन मनीषियों का विशाल दृष्टिकोण रहा है। उन्होंने रूढ़िवादियों की तरह यह नहीं माना कि संस्कृत भाषा या संस्कृत शब्दों में अथवा प्राकृत भाषा या प्राकृत शब्दों में ही सम्यक् अर्थबोध का सामर्थ्य है, अपितु उन्होंने देश, काल और उपयोगिता को ध्यान में रखकर प्राचीन कालिक देश भाषाओं—विभिन्न प्राकृतों, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, बंगला आदि भाषाओं को अपनी विचार अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया।

सन्दर्भ एवं सहायक ग्रन्थ

१. जैनदर्शन—वर्णी शोध संस्थान, वाराणसी।
२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश—भारतीय ज्ञानपीठ, प्र० सं०।
३. जैन भाषादर्शन—बी० एल० भारतीय विद्या संस्थान, दिल्ली।
४. नाटयशास्त्र—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
५. परीक्षामुख—(प्र० र० मा० सहित) चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।
६. पंचास्तिकाय—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

७. प्रज्ञापना सूत्र—आगमोदय समिति, मेहसाना।
८. प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार—यशो० श्वे० जैन पाठशाला, काशी।
९ प्रवचनसार—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई।
१०. पाणिनीयशिक्षा—चौखम्बा संस्करण, १९४८।
११. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी।
१२. प्राकृत साहित्य का इतिहास—चौखम्बा विद्या भवन, (प्र० सं०) वाराणसी।
१३. प्राकृत स्वयं शिक्षक—प्राकृत भारती, जयपुर।
१४. सर्वार्थसिद्धि—भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।

रिसर्च एशोसिएट
प्राकृत एवं जैनागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

●

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज संस्मरण और श्रद्धांजलि

—ब्र० पं० चन्दाबाई जी

सन् १९२२ में जबकि यहाँ उत्तरप्रदेश में श्री मुनियों का विहार नहीं होता था, दक्षिण में ही दर्शन होते थे तब हम सेडवाल गये और श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर जी चारित्र-चक्रवर्ती के दर्शन किये। कुछ दिनों वहाँ रहकर धर्मलाभ लिया। आचार्यश्री हिन्दी नहीं बोल सकते थे। पश्चात् अनेक चातुर्मास में आचार्यश्री के दर्शनों को हम गए थे। १० स्थानों के नाम निम्न हैं—

१. फलटन में दो माह रहे।
२. आथड़ ग्राम चातुर्मास में उदयपुर
३. प्रतापगढ़, शान्तिनाथ
४, कुम्भोज
५. राजाखेड़ा
६. गजपंथ में अन्तिम दर्शन
७. मथुरा
८. दिल्ली
९. कटनी पहला चातुर्मास
१०. सेडवाल में प्रथम दर्शन

कुम्भोज (हाथ कलंगड़े) में आचार्यश्री का चातुर्मास हुआ तब हम भी वहाँ १५ दिन रहे तथा श्री सेठ घासीलाल जी बम्बई से अपने पुत्रों के साथ आये थे तब आचार्यश्री को उत्तरप्रदेश में लाने का प्रोग्राम बनाया गया। श्री सम्मेदशिखर पर सेठ साहब ने मन्दिर बनवाना प्रारम्भ किया। आचार्यश्री बहुत कम बोलते थे, साथ में पुस्तकादि का संग्रह भी नगण्य ही रहता था। साथ में साधु समुदाय भी कम था।

एक बार आचार्यश्री अपनी दीक्षा के विषय में कहने लगे कि—पहले दक्षिण में मुनिगण मन्दिर में बैठे रहते थे और एक श्रावक कमण्डल उठाकर चलता था, तब उसी के साथ मुनि महाराज जाकर आहार एक घर में ले लेते थे। आचार्यश्री ने स्वाध्याय किया। तब यह क्रिया उनको खटकी और उन्होंने कहा कि हम चर्या करके आहार लेंगे, जैसा कि शास्त्रोक्त विधान

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

है। इस पर श्रावकों ने कहा कि इस काल में यह न हो सकेगा। तब आचार्यश्री ४–६ दिनों तक आहार के लिए नहीं उठे। कई घर के लोग प्रतिक्रमण करने को खड़े हुए तब आचार्यश्री ने आहार ग्रहण किया। तब से अब तक वह मार्ग चला जाता है।

कई चौमासों के बाद आचार्यश्री राजाखेड़ा पहुँचे। मैं भी वहाँ गयी थी, वहाँ के श्रावकों ने सबको ठहराया। प्रायः कच्चे मकान थे, एक चबूतरा बड़ा था। उसके ऊपर एक ओर दो कोठे थे, वहीं श्रीमुनिसंघ ठहरा था। सात श्री मुनिमहाराज क्षुल्लक दो ब्रह्मचारिणी थीं। दो दिन उपदेश हुए, सभा हुई।

किन्तु, राजाखेड़ा के ब्राह्मणों को यह सहन नहीं हुआ और उन्होंने साधुओं को मारने का उपक्रम किया। तीसरे दिन जबकि आहार करके साधुगण बाहर चबूतरे पर सामायिक करने को बैठने लगे तब आचार्य श्री शान्तिसागरजी ने कहा कि भीतर बैठो। उनकी आज्ञा प्रमाण सब साधु भीतर सामायिक करने बैठ गये।

हमारे यहाँ ही महाराज श्री का आहार हुआ था। जैसे ही हम लोगों ने भोजन की थाली परोसी थी कि हल्ला जोरों का सुनाई पड़ा। ब्राह्मण लोग तलवार आदि लेकर आ गये। हम लोग थाली छोड़कर सामने पास ही में जिन मन्दिर था वहाँ चले गये। बन्द करके बैठे। साधुगणों की कोठरी श्रावकों ने बन्द कर ताले लगा दिये। अब आपस में युद्ध चला। जैनों के पास तो शंख थे, शस्त्र थे नहीं। ईंट लकड़ी उठाई। उधर दंगे वालों ने तलवार से कई लोगों को जख्मी कर दिया। घंटों दंगा हुआ। राजाखेड़ा में साधारण पुलिस थी। तब धवलपुर से पुलिस रसाला बुलाया गया तभी दंगा दबा और दंगे का मुख्य छिट्टा नामक व्यक्ति पकड़ा गया, उसको मार पड़ी। परन्तु आचार्य ने बचा लिया, वरन प्राणांत हो जाता। आचार्यश्री का निमित्त ज्ञान प्रबल था वरना सब साधुओं का वध हो जाता, बाहर बैठ जाते तो। पश्चात् सब परदेशी श्रावक और संघ राजाखेड़ा से रवाना हुआ।

आचार्यश्री ने हरिजन आन्दोलन के समय अन्न आहार लेना त्याग दिया था तब श्रावकों को चिन्ता हो गई। हम दिल्ली जाकर राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद जी आदि राज्य के संचालकों और बम्बई जाकर श्री खेर साहब (मुख्यमंत्री) से मिले, किन्तु सफलता नहीं मिली।

हरिजन मन्दिरों में जाकर प्रतिबिम्बों को छूने लगे इत्यादि होता ही रहा, तब अकलूज में मुकदमा दायर किया गया। सेठ गजराज जी गंगवाल कलकत्ता वाले आरा आये और पटना से बैरिस्टर पी० आर० दास को बहस करने के लिये ले गये। वहाँ उनकी बहस से मुकदमा सुलझ गया और जैन मन्दिरों में हरिजन न जाये यह तय हो गया।

तब वारामती (पूना) में आचार्यश्री शान्तिसागरजी से कहा गया कि अन्नाहार ग्रहण करिये किन्तु आपने अन्न नहीं लिया और कहा कि शायद अपील में हार हो जाय। तब तक अन्न लेना नहीं होगा।

२

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

यह सुनकर हमने सुबोध कुमार (अपने पौत्र) को पटना भेजा और बैरिस्टर पी० आर० दास से अपील को देखने को कहा। बैरिस्टर जी ने भलीभाँति अपील देखी और कहा कि इसमें कोई दम नहीं है, दूसरे पक्ष से अपील नहीं होगी और केश को उलटा भी न जा सकेगा। जब यह निश्चय हो गया तब हमने वारामती (पूना) को तार दिया कि अपील खारिज ही समझें क्योंकि मुकदमा नहीं हो सकता है। अतः सबने आचार्यजी को पी० आर० दास बैरिस्टर की सम्मति सुनायी। हमारा तार भी सुनाया तब अन्नाहार हुआ। धन्य भाग थे जो कि सफलता मिली।

श्री १०८ आचार्य चारित्र चक्रवर्ती शान्तिसागरजी से सन् १९३४ मि० कार्तिक सुदी पूर्णिमा को आमड़ ग्राम (उदयपुर) में हमको सातवीं प्रतिमा के व्रत लेने का अवसर प्राप्त हुआ था।

(ब्र० पं० चन्दाबाई—आरा के हस्तलिखित पन्नों में यह लेख १-८-९० को प्राप्त हुआ)।

नोट—(१) पटना के बैरिस्टर पी० आर० दास, कांग्रेस के सुप्रसिद्ध नेता देशबन्धु चितरंजन दास के छोटे भाई थे। दोनों ही बन्धु नामी वकील थे।

(२) पूज्य दादीजी ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई के साथ हमारे पूज्य चाचा बाबू चक्रेश्वर कुमार जी और हम भी बम्बई गए थे। बाद में गजपन्था जी जाकर हम सभी ने पूज्य आचार्य महाराज के दर्शन किये। पूज्य दादीजी ने उन्हें आहार दिया। हम लोगों ने क्षेत्र के दर्शन भी पहाड़ी पर जाकर किये। महाराज जी को सभी बातें बताई गईं।

(३) इसी सिलसिले में पूज्य दादीजी हरिजनों के नेता बाबू जगजीवनराम से भी मिली थी और उन्हें भी राजी किया था।

(४) बम्बई के मुख्यमंत्री श्री खेर साहब को डॉ० राजेन्द्रप्रसाद का हस्ताक्षरित पत्र भी इस विषय में उनकी अनुमोदना किया हुआ दिया था।

—सुबोधकुमार

Ac. Gunratnasuri MS　　　　Jin Gun Aradhak Trust

सांस्कृतिक अनुसन्धान में जैन सिद्धान्त भवन आरा का अवदान*

डॉ० ऋषभचन्द्र जैन 'फौजदार'

बीसवीं सदी के आरम्भ में जब जैनविद्या विषयक अनुसन्धान अपने शैशवकाल में था। तब इसके विकास हेतु ऐतिहासिक नगर आरा में जैन सिद्धान्त भवन का जन्म हुआ। भवन के जन्म के साथ सर्वप्रथम पूर्वोत्तर भारत में श्रुत-संरक्षण का श्रीगणेश हुआ। इसके संस्थापक बाबू देवकुमार ने जैन संस्कृति को सुरक्षित रखने हेतु श्रुत संरक्षण को परम आवश्यक माना और देश के कोने-कोने से शास्त्र प्राप्त करने के लिए विशेष अभियान चलाया। इसका सुफल यह हुआ कि भवन का शास्त्र भण्डार दिनों-दिन समृद्ध होने लगा। षट्खण्डागम और कसायपाहुड जैसे दुर्लभ मूल आगम प्रतिलिपि कराकर जैन सिद्धान्त भवन में सुरक्षित किये गये। कन्नड, तमिल एवं देवनागरी लिपि के सहस्रों ग्रन्थ मँगाये गये। देश के अन्य स्थानों से प्राचीन शास्त्र मँगाकर उनकी प्रतिलिपियाँ करायीं गईं। उन्हें भवन में रखा और ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई, रायचन्द्र आश्रम अगास आदि अन्य शास्त्र भण्डारों के लिए भेजा। इस प्रकार जैन सिद्धान्त भवन ने शास्त्र संरक्षण, शास्त्र लेखन और शास्त्रदान की परम्परा को जीवन्त रखा।

अनुसन्धान कार्यों को देश-विदेश तक पहुँचाने के उद्देश्य से जैन सिद्धान्त भवन ने 'जैन सिद्धान्त भास्कर एवं जैन एण्टीक्वैरी' शोध पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। भास्कर ने ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक अनुसन्धान के क्षेत्र में धूम मचा दी। भास्कर में प्राचीन पाण्डुलिपियों का प्रकाशन भी होता रहा। सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट की तरह 'सेक्रेड बुक्स ऑफ द जैन्स' सीरीज के अन्तर्गत प्राचीन ग्रन्थों का अंगरेजी अनुवाद के साथ प्रकाशन आरम्भ हुआ। जिनवाणी के प्रचार-प्रसार का यह पहला आन्दोलन था, जो अंगरेजी भाषा के माध्यम से चलाया गया। इससे जैन संस्कृति का विश्वव्यापी प्रचार हुआ। प्राकृत एवं जैनविद्या सम्बन्धी अनुसन्धान को आधुनिक पद्धति से जोड़ने के निमित्त जैन सिद्धान्त भवन में ही 'श्री देवकुमार जैन प्राच्य शोध संस्थान' और 'देवकुमार जैन प्राच्य ग्रन्थागार' स्थापित किये गये। ये संस्थान अनुसंधान की आधुनिक सुविधाओं से सम्पन्न बनाये जा रहे हैं। संस्थान मगध विश्वविद्यालय से मान्यता प्राप्त है।

---

* दि० जैन समाज गया द्वारा नवम्बर ९१ में आयोजित 'विद्वत् संगोष्ठी' में पढ़ा गया शोध निबन्ध।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

भवन ने सांस्कृतिक अनुसन्धान को जन-जन तक पहुँचाने लिए देश के कोने-कोने में विशाल प्रदर्शनियाँ आयोजित कीं और सामान्य जनमानस को सांस्कृतिक विरासत की ओर आकृष्ट किया। बाद में उक्त अमूल्य सांस्कृतिक सम्पदा को 'निर्मलकुमार, चक्रेश्वरकुमार जैन सांस्कृतिक कला दीर्घा' में स्वतन्त्र रूप से स्थायित्व प्रदान किया गया।

जैन सिद्धान्त भवन के अनुसंधान कार्यों से प्रेरित होकर एक ओर ब्र० पू० चन्दाबाई ने 'जैन बाला विश्राम' स्थापित कर नारी शिक्षा का डंका बजाया। 'अखिल भारतीय महिला परिषद' का गठन किया। 'जैन महिलादर्श' नामक मासिक पत्र प्रकाशित कर नारी को पत्र-कारिता से जोड़ा। इससे नारी शिक्षा और नारी जागरण के क्षेत्र में तहलका मच गया। वहीं दूसरी ओर बाबू हरप्रसाद दास ने 'आदिनाथ ट्रस्ट' स्थापित किया। साथ में जैन कालेज, जैन हाईस्कूल जैसी संस्थाओं को जन्म देकर शिक्षा के क्षेत्र में विशेष योगदान किया। इनके अतिरिक्त आरा की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक तथा आर्थिक सम्पन्नता का अनुमान वहाँ प्रतिष्ठित प्रायः शतार्ध भव्य जिन मन्दिरों एवं उनमें विराजमान प्राचीन जिन मूर्तियों से किया जा सकता है। प्रस्तुत निबन्ध में उक्त सभी तथ्यों पर विचार किया गया है।

यहाँ सर्वप्रथम आरा नगर के इतिहास पर विचार करना प्रासंगिक है। वर्तमान बिहार राज्य के गौरवपूर्ण सांस्कृतिक इतिहास में आरा का अपना महत्त्व है। रामायण[१] और महाभारत काल में यह क्षेत्र कारुष देश के नाम से विख्यात रहा। यह देश वैवस्वत मनु के छठे पुत्र करुष द्वारा स्थापित होने के कारण कारुष कहलाया।[२] आरा से चार मील पश्चिम मसाढ़ ग्राम के प्राचीन जैन मन्दिर के मूर्ति लेख[3], आरा के पंचायती मन्दिर में प्राप्त मूर्तिलेख[४] तथा जैन सिद्धान्त भवन में उपलब्ध अनेक प्राचीन हस्तलिखित पोथियों की प्रशस्तियाँ, इस तथ्य का पूरा समर्थन करते हैं कि कारुष देश में आरामपुर या आरामपुर नगर था, वर्तमान आरा प्राचीन आरामपुर का संशोधित नाम है।

आरा का जैन सिद्धान्त भवन जो 'सेन्ट्रल जैन ओरिएण्टल लायब्रेरी' के नाम प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अनुसन्धान के क्षेत्र में सम्पूर्ण पूर्वोत्तर भारत का प्रतिनिधित्व करता है। जैनधर्म और संस्कृति की सुरक्षा में इसका अनुपम योगदान है। भवन के शास्त्र भण्डार में कागज पर लिखित प्राचीन पाण्डुलिपियाँ ४५०८ (चार हजार पाँच सौ आठ) हैं तथा कन्नड और तमिल लिपि की १७११ ताडपत्रीय प्रतियाँ सुरक्षित हैं।[५] पूर्वोत्तर भारत में प्राचीन पाण्डुलिपियों का इतना विशाल संग्रह अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। मुद्रित ग्रन्थों का संग्रह लगभग सोलह हजार है। भवन की ऐतिहासिक एवं अनुसन्धान बहुल सामग्री से देश-विदेश के सहस्रों विद्वान् लाभान्वित हुए हैं। प्रो० डब्ल्यू० नौरमैन ब्राउन, अमेरिका, हर्मन जैकौबी, डॉ० स्ट्रा आदि विदेशी विद्वानों ने इसका उपयोग किया और मुक्तकंठ से प्रशंसा की।

ऐतिहासिक शास्त्र भण्डार जैन सिद्धान्त भवन के प्रेरणास्रोत भट्टारक हर्षकीर्ति महाराज थे। उनकी आदेशात्मक प्रेरणा से बाबू देवकुमार ने सन् १९०३ में जैन सिद्धान्त भवन की स्थापना कर दी।[६] उन्होंने अपने दादा पं० प्रभुदास का संग्रह जैन सिद्धान्त भवन में दे दिया।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

भट्टारक हर्षकीर्ति जी ने अपना ग्रन्थ संग्रह भी भवन के सुपुर्द कर दिया। बाबू देवकुमार ने भवन के स्थायी प्रबन्ध हेतु १५००/= (पन्द्रह सौ) रुपये वार्षिक सहायता निश्चित की तथा ग्रन्थागार का स्वतन्त्र 'भवन' बनवाने के लिए ५०००/= की नगद निधि सरस्वती भवन के खाते में जमा करा दी।[७] बाबू देवकुमार अधिक समय सरस्वती भवन का कार्य नहीं कर सके, उनका ५ अगस्त १९०८ ई० को ३१ वर्ष की अल्पायु में ही स्वर्गवास हो गया। मृत्यु के पूर्व उन्होंने कहा—"आप सब भाइयों से और विशेषतया जैन समाज के नेताओं से मेरी अन्तिम प्रार्थना यही है कि प्राचीन शास्त्रों और मन्दिरों एवं शिलालेखों की शीघ्रतर रक्षा होनी चाहिए, क्योंकि इन्हीं से संसार में जैनधर्म के महत्त्व का अस्तित्व रहेगा। मैं तो इसी चिन्ता में था, किन्तु अचानक काल आकर मुझे लिए जा रहा है। मैंने यह प्रतिज्ञा की थी जब तक इस कार्य को पूरा न कर लूँगा तब तक ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। बड़े शोक की बात है कि अपने अभाग्योदय से मुझे इस परम पवित्र कार्य के करने का पुण्य प्राप्त नहीं हुआ, अब आप ही लोग इस पवित्र कार्य के स्तम्भ स्वरूप हैं, इसलिए परम आवश्यक कार्य का सम्पादन करना सबका परम कर्त्तव्य है।"—जैन सि० भा०, २३–१, पृ० ८७.

बाबू देवकुमार के निधन के पश्चात् बाबू करोड़ीचन्द्र, कुमार देवेन्द्रप्रसाद, बाबू सुपार्श्वदास गुप्त, बाबू निर्मलकुमार, बाबू चक्रेश्वरकुमार जैन ने भवन के कामों को पूरी निष्ठा के साथ संचालित किया। सन् १९५७ से बाबू सुबोधकुमार जैन बड़ी लगन और सूझ-बूझ के साथ भवन का संचालन कर रहे हैं।

श्रुतसंरक्षण के निमित्त बाबू देवकुमार ने सन् १९०६ में दक्षिण भारत की यात्रा की। उन्होंने वहाँ गाँव-गाँव में जन सभाओं का आयोजन कर प्राचीन ग्रन्थों, शिलालेखों एवं अन्य पुरातात्विक सम्पदा का महत्त्व बताया और उसकी सुरक्षा के लिए प्रेरित किया।[८] लोगों ने प्रभावित होकर कागज और ताडपत्र के अनेक महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थ भवन के लिए दान दिये। अनेक स्थानों पर शास्त्रों की सुरक्षा व्यवस्था प्रशस्त हुई। मूडबिद्री से अनेक प्राचीन ग्रन्थों की प्रतिलिपि कराकर भवन के लिए मँगायी।[९]

प्राचीन ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने हेतु भवन में लिपिकार (लेखक) नियुक्त थे। देश के कोने-कोने से प्राचीन पाण्डुलिपियाँ मँगाकर उनकी प्रतिलिपियाँ भवन में सुरक्षित रखी जाती थीं। भवन के प्रतिलिपिकारों में भुजवल प्रसाद जैन, रोशन लाल जैन, तात्या नेमिनाथ पांगल प्रमुख हैं।[१०] विशेष यह कि भवन से ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ देश के अन्य सरस्वती भण्डारों को भेजी जाती रही हैं। 'जयधवला' जैसे विशाल एवं महत्त्वपूर्ण आगम ग्रन्थ की प्रतिलिपि भवन से ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई तथा रायचन्द्र आश्रम अगास भेजी गई।[११] आरा के दुरगा प्रसाद जैनी, पं० प्रभुदास, बाबू हरीदास, भट्टारक मुनीन्द्रकीर्ति आदि विद्वानों, भट्टारकों का शास्त्र लेखन में महत्त्वपूर्ण योगदान है।[१२]

जैन सिद्धान्त भवन में सुरक्षित पाण्डुलिपियों की प्रशस्तियों के अनुशीलन से ज्ञात होता कि वर्तमान बिहार की राजधानी तथा ऐतिहासिक नगर पटना में अठारहवीं शती में जैन शास्त्रों

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

का लेखन पर्याप्त परिमाण में हुआ है। प्रशस्तियों में पटना का पटणा[13], पट्टणानगर[14], पट्टनपुर[15], पट्टनपुर नगर[16] और पाटलिपुर[17] नाम से उल्लेख मिलता है। बाढ़,[18] औरंगाबाद,[19] पूर्णियाँ,[20] छपरा,[21] आदि थानों में भी शास्त्र लेखन के उल्लेख प्राप्त होते हैं। औरंगाबाद में भट्टारक जिन समुद्रसूरि के शिष्य भट्टारक सौभाग्य समुद्र ने रक्त पद्मावती कल्प की प्रतिलिपि संवत् १७३८ में की थी। छपरा में भट्टारक मुनीन्द्र कीर्ति ने पार्श्वनाथ के बड़े मन्दिर में द्रव्यसंग्रह की प्रतिलिपि की थी। इससे ज्ञात होता है कि औरंगाबाद और छपरा में भट्टारकों की गद्दियाँ रहीं हैं। इन स्थानों में प्राचीन ग्रन्थों की प्रतियाँ संभावित हैं। गया के पंचायती मन्दिर में शास्त्र पढ़ाने का भी एक उल्लेख मिला है।[22] एक सूचना के अनुसार गया के मन्दिर में पर्याप्त प्राचीन पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। उनकी सूची प्रकाशित करके उद्धार के विषय में विचार किया जाना चाहिए। एक बार सम्पूर्ण बिहार के प्राचीन मन्दिरों में सुरक्षित शास्त्र सम्पदा के सर्वेक्षण की आवश्यकता है। तभी बिहार के सांस्कृतिक इतिहास का वास्तविक मूल्यांकन हो सकेगा। गया समाज के मान्य जनों का इस ओर ध्यान जाना चाहिए।

जैन सिद्धान्त भवन ने अपनी गरिमा के अनुरूप सन् १९१२ में 'श्री जैन सिद्धान्त भास्कर 'शोधपत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। इसका पहला अंक कलकत्ता से प्रकाशित हुआ, जिसका सम्पादन पद्मराज रानीवाला ने किया। भास्कर की पहली किरण पर इंगलैण्ड से निकलने वाली 'ओरिएण्टल हिस्ट्री सीरीज' के सम्पादक ने प्रतिक्रिया स्वरूप लिखा—"जैन जैन पण्डितों ने सम्राट चन्द्रगुप्त को जैन प्रमाणित करने में जो अकाट्य और असंदिग्ध ऐतिहासिक प्रमाण एकत्र किये हैं, उनसे विचारों में आघात लगे बिना नहीं रहता। यद्यपि चन्द्रगुप्त के जैन स्वीकार करने में कुछ समय सापेक्ष है, तो भी इन प्रमाणों के रहते अस्वीकार करना भी उतना ही कठिन है।[23]"

जैन सिद्धान्त भास्कर के दूसरे भाग के साथ "जैन एण्टीक्वैरी" अंग्रेजी का प्रकाशन आरम्भ किया गया।[24] तब से अब तक 'जैन सिद्धान्त भास्कर' एवं 'जैन एण्टीक्वैरी' अविकल रूप से एक साथ प्रकाशित हो रहे हैं। इसका प्रसार जर्मनी, इंगलैण्ड, अफ्रीका, अमेरिका तथा सिलोन (श्रीलंका) आदि भारतेतर देशों में भी हो रहा है।[25] भास्कर में अनेक लघु पाण्डुलिपियों का प्रकाशन मूल रूप में हुआ है। उनका अनुवाद आदि सामग्री के साथ प्रकाशन अभी अपेक्षित है।

जैन सिद्धान्त भवन ने प्रशस्ति संग्रह, प्रतिमा लेख संग्रह, तिलोयपण्णत्ति, वैद्यसार, मुनिसुव्रत काव्य, ज्ञान प्रदीपिका तथा सामुद्रिक शास्त्र, जैन लिटरेचर इन तमिल आदि पैंतीस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये। बीच में कुछ वर्षों तक ग्रन्थ प्रकाशन का कार्य प्रायः स्थगित रहा।

सन् १९८५ में शोध प्रकाशन की उक्त परम्परा को पुनरुज्जीवित करने हेतु बाबू सुबोध कुमार जैन चिन्तित हुए। उन्होंने मुझसे विचार-विमर्श किया और जैन सिद्धान्त भवन में सुरक्षित प्राचीन पाण्डुलिपियों की विस्तृत सूची प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

परामर्शानुसार विस्तृत सूची 'जैन सिद्धान्त भवन ग्रन्थावली' नाम से छः भागों में प्रकाशित करने की योजना बनी। इसके सम्पादन का दायित्व मुझे सौंपा गया। अभी इसके दो भाग प्रकाशित हुए हैं। अन्य का काम चल रहा है। इस प्रकाशन से भवन की प्राचीन शास्त्र सम्पदा का देश-विदेश में प्रचार हुआ है। उक्त सूचियाँ आधुनिक पद्धति से तैयार की गई हैं।

मुनि केशराज कृत 'राम यशोरसायन रास' **सचित्र जैन रामायण** जैन सिद्धान्त भवन का अनुपम एवं अद्वितीय प्रकाशन है। इसकी एकमात्र रंगीन सचित्र पाण्डुलिपि उक्त भवन में उपलब्ध है। पूरी पाण्डुलिपि का यथावत् सचित्र प्रकाशन किया गया है। इसमें २१३ रंगीन चित्र हैं। इसकी दूसरी प्रति देश-विदेश में कहीं भी उपलब्ध नहीं है। अतः जो पत्र उक्त प्रति में उपलब्ध नहीं थे, उनकी सामग्री 'आनन्द काव्य महोदधि' में प्रकाशित राम यशोरसायन रास से पूरी करके परिशिष्ट में दी गई है। यह ग्रन्थ अपूर्व तथा संग्रहणीय है।

जैन सिद्धान्त भवन के अन्तर्गत बाबू सुबोधकुमार जैन के सद्प्रयत्न से 'श्री देवकुमार जैन प्राच्य शोध संस्थान' सन् १९६३ में स्थापित हुआ। यह संस्थान मगध विश्वविद्यालय से मान्यता प्राप्त है।[२६] संस्थान में प्राकृत एवं जैनविद्या की विभिन्न विधाओं पर शोध कार्य हो रहा है। वर्तमान में लगभग दस अनुसन्धाता पी० एच० डी० उपाधि हेतु संस्थान के सहयोग से अनुसन्धान कार्य कर रहे हैं। इसके मानद निदेशक प्रो० राजाराम जैन हैं। संस्थान को प्रो०गोकुलचन्द्र जैन, डॉ० विद्यावती जैन, डॉ० सुनीता जैन, डॉ० ऋषभचन्द्र फौजदार आदि विद्वानों का सहयोग प्राप्त है।

प्राकृत एवं जैनविद्या के क्षेत्र में अनुसन्धान को प्रोत्साहित करने हेतु भवन स्व० बाबू देवकुमार जैन की पुण्य स्मृति में 'श्री देवकुमार जैन पुरस्कार' प्रदान करता है। यह पुरस्कार प्रत्येक अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के 'प्राकृत एवं जैनिज्म सेक्शन' में प्रस्तुत सर्वोत्कृष्ट शोध निबन्ध पर विद्वान् लेखक को सम्मान स्वरूप प्रदान किया जाता है।

प्राचीन ग्रन्थों को देश-विदेश के विद्वानों तक पहुँचाने के उद्देश्य से कुमार देवेन्द्रप्रसाद ने 'सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस' की नींव डाली और उसके माध्यम से सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट की तरह 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दी जैन्स' सीरीज के अन्तर्गत प्राचीन जैन ग्रंथ अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किये।[२७] इसका देशव्यापी प्रचार करने हेतु दूसरा केन्द्र लखनऊ बनाया। इस संस्था ने जैनधर्म और संस्कृति का विश्व भर में प्रसार करने की अहं भूमिका का निर्वाह किया। उक्त कार्य में कुमार देवेन्द्र के साथ बैरिस्टर चम्पतराय, बाबू अजितप्रसाद, जे० एल० जैनी, उग्रसेन जैन प्रभृति महानुभाव विशेष सहयोगी थे। इस प्रकाशन के सहयोग से अहिन्दी भाषियों में भी जैनधर्म और संस्कृति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई।

जैन संस्कृति और सांस्कृतिक सम्पदा को जन-जन तक पहुँचाने के उद्देश्य से भारत के विभिन्न नगरों में प्रदर्शिनी आयोजित कीं। जैन सिद्धान्त भवन अपने नौ दशक के जीवन काल में आठ विशाल प्रदर्शिनियाँ आयोजित कर चुका है।[२८] प्रथम प्रदर्शनी सन् १९११ में आरा में आयोजित की गई। पश्चात् १९१२ में द्वितीय प्रदर्शनी का आयोजन भागलपुर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के चतुर्थ अधिवेशन के समय हुआ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तृतीय प्रदर्शनी १९१४ में स्याद्वाद महाविद्यालय एवं जैन महामण्डल के वार्षिकोत्सव के अवसर पर काशी में आयोजित हुई। इसमें डॉ० हर्मन जैकोबी को ''**जैनदर्शन दिवाकर**'' एवं डॉ० सतीशचन्द विद्याभूषण को ''**जैन सिद्धान्त महोदधि**'' की उपाधियाँ प्रदान की गईं। उत्सव में डॉ० मिस एनी बेसेन्ट, डॉ० स्ट्रा साहब तथा पण्डित गोपालदास बरैया जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वानों ने भाग लिया और जैन सिद्धान्त भवन के क्रिया-कलापों को मुक्तकण्ठ से सराहा।

चौथी प्रदर्शनी १९१५ ई० में ''**जैन लिटरेरी एण्ड साइन्टिफिक एक्जीवीशन**'' नाम से कलकत्ते में आयोजित हुई। इसमें देश-विदेश के अनेक विशिष्ट व्यक्तियों ने भाग लिया। पाँचवीं प्रदर्शनी का आयोजन भवन की हीरक जयन्ती के अवसर पर १९६३ में किया गया। इसमें देश के लगभग ५० विद्वानों, कई राजनेताओं एवं श्रीमंतों ने हिस्सा लिया। इसमें अनेक विद्वानों को '**सिद्धान्ताचार्य**' की उपाधि से सम्मानित किया गया। छठी प्रदर्शनी १९७३ ई० में आरा में ही आयोजित की गई।

सातवीं प्रदर्शनी १९७४ ई० में राजगृह के आचार्य महावीर कीर्ति सरस्वती भवन में प्रदर्शित की गई। भगवान् महावीर के २५ सौवें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर इसका आयोजन किया गया। आयोजन में श्री विजयसिंह नाहर, उपाध्याय अमर मुनि जी, वर्मा, श्रीलंका, वियतनाम, जापान और चोन आदि देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। देश के विभिन्न प्रान्तों के प्रायः दो सौ विद्वानों ने भाग निया। बिहार प्रादेशिक तीर्थक्षेत्र कमेटी के अनुरोध पर जैन सिद्धान्त भवन के तत्कालीन मन्त्री बाबू सुबोधकुमार जैन ने उक्त प्रदर्शिनी को वहीं स्थायी रूप से रखने की स्वीकृति दे दी। उक्त प्रदर्शिनी आज भी वहाँ यथावत् प्रदर्शित है।

आठवीं प्रदर्शनी जैन समाज गया द्वारा आयोजित अखिल भारतवर्षीय जैन सेमिनार के अवसर पर १९७५ में प्रदर्शित की गई।

उक्त प्रदर्शिनियों में प्रदर्शित सांस्कृतिक विरासत को स्थायी रूप देने हेतु भवन के तत्त्वावधान में '**श्री निर्मलकुमार चक्रेश्वरकुमार जैन कला एवं संस्कृति गैलरी**' का सन् १९७७ में शुभारम्भ किया गया। इसमें ताम्रपत्र पर खुदे मन्त्र, बाबू देवकुमार का दान पत्र, बाबू धर्मकुमार का मान पत्र, प्राचीन सिक्के, शिलालेख, अब्दुल गनी खाँ द्वारा बनाये गये कई दुर्लभ चित्र, कपड़े पर अंकित अनेक मंत्र चित्र, बाबू प्रबोधकुमार जैन एवं बाबू सुबोधकुमार जैन द्वारा निर्मित अनेक चित्र, विभिन्न मूर्तिकारों द्वारा निर्मित मूर्तियाँ, ताडपत्र एवं कागज पर अंकित सचित्र एवं अन्य अनेक ग्रन्थों के नमूने और बीसवीं सदी के विभिन्न गणमान्य विद्वानों की हस्तलिपियों का संग्रह प्रदर्शित है।

यहाँ ब्र० पं० चन्दाबाई के कार्यों का उल्लेख भी आवश्यक है। वे बाबू देवकुमार के लघु भ्राता बाबू धर्मकुमार की धर्मपत्नी थीं। उन्होंने अल्पवय में वैधव्य के कारण आजीवन ब्रह्मचर्य लिया। और साधना में लग गयीं। ब्र० चन्दाबाई जी ने अपने पारिवारिक बगीचे धर्मकुंज में जैन बाला विश्राम की स्थापना की और समाज की असहाय महिलाओं एवं कन्याओं

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

को आश्रय दिया। उन्होंने सन् १९२१ में 'अखिल भारतीय महिला परिषद्' स्थापित कर नारी जागरण के लिए विशेष कदम उठाया। परिषद् ने 'जैन महिलादर्श' मासिक पत्र का प्रकाशन भी आरम्भ किया।[२९] ब्र० चन्दाबाई ने उसका आजीवन सम्पादन प्रकाशन किया। नारी शिक्षा, नारी जागरण तथा पत्रकारिता के क्षेत्र में बेजोड़ योगदान के लिए पूज्या चन्दाबाई (माँ श्री) को युग-युग तक स्मरण किया जाता रहेगा।

शिक्षा के क्षेत्र में विशेष योगदान के लिए बाबू हरप्रसाद दास जैन का स्मरण भी आवश्यक है। उन्होंने अपनी सम्पत्ति से आदिनाथ ट्रस्ट की स्थापना की। इस ट्रस्ट द्वारा हरप्रसाद दास जैन कालेज, हरप्रसाद दास जैन हाई स्कूल, हरप्रसाद दास जैन धर्मशाला, पटना में अग्रवाल छात्रावास आदि संस्थाएँ संचालित हैं।[३०] उक्त ट्रस्ट शिक्षा एवं समाज के क्षेत्र में असमर्थों के लिए आर्थिक सहायता भी देता है। ये संस्थाएँ शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान कर रही हैं।

सांस्कृतिक धरोहर के रूप में आरा में ४५ प्राचीन जैन मन्दिर हैं। जो आरा जैन समाज के स्वर्णिम अतीत की गौरव गाथा प्रकट करते हैं। इन मन्दिरों की मूर्तियों पर उत्कीर्ण प्रशस्तियों से ज्ञात होता है कि स्थानीय समाज ने उन्नीसवीं सदी के आरम्भ से बीसवीं सदी के अर्ध भाग तक अनेक मन्दिरों का निर्माण किया तथा पंच कल्याणक प्रतिष्ठाएँ करायीं। उनके संचालन हेतु ट्रस्ट बनाये, जिनसे उनका विधिवत् संचालन हो रहा है।

राजर्षि बाबू देवकुमार के परिवार ने जैन समाज एवं संस्कृति की सतत् सेवा की है। इस परिवार के समाज-सेवियों में पं० प्रभुदास, बाबू देवकुमार, बाबू निर्मलकुमार, बाबू चक्रेश्वर कुमार, बाबू प्रबोधकुमार तथा बाबू सुबोधकुमार जैन प्रमुख हैं। उक्त महानुभावों ने जैन सिद्धान्त भवन के माध्यम से ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक अनुसन्धान की दिशा में विशेष योगदान किया है। इनके अतिरिक्त कविवर वृन्दावन, जैनेन्द्र किशोर, देवेन्द्र किशोर, पं० नेमिनाथ पांगल, पं० के० भुजबली शास्त्री, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रो० हीरालाल जैन, प्रो० ए० एन० उपाध्ये, बाबू कामताप्रसाद जैन, डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, पं० हरनाथ द्विवेदी प्रभृति विद्वानों का भी भवन के कार्यों में महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है।

उपर्युक्त विवरण से निम्नलिखित तथ्य उभर कर सामने आते हैं :—

१. आरा ऐतिहासिक नगर है। इसका प्राचीन नाम आराम नगर था।
२. आरा में बीसवीं सदी में जैन संस्कृति का भरपूर विकास हुआ है।
३. जैन सिद्धान्त भवन, आरा का प्राचीन शास्त्र-संग्रह अद्वितीय है।
४. देश के कोने-कोने से प्राचीन ग्रन्थ संकलित करके यहाँ सुरक्षित किये गये।
५. धवला और जयधवला जैसे दुर्लभ आगमों की प्रतियाँ सुरक्षित कीं।
६. भवन ने शास्त्र-लेखन और शास्त्र-दान की परम्परा को अक्षुण्ण रखा है।
७. भवन ने 'जैन सिद्धान्त भास्कर एवं जैन एण्टीक्वैरी' के माध्यम से ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अनुसन्धान का विश्वव्यापी प्रचार-प्रसार किया।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

८. प्राचीन जैन ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशन कर विश्व भर के अहिन्दी भाषियों को जैनधर्म और संस्कृति से परिचित कराया।

९. देवकुमार जैन प्राच्य शोध संस्थान के माध्यम से प्राकृत एवं जैनविद्या विषयक अनुसन्धान को व्यापक आधार प्रदान किया।

१०. प्रदर्शिनी और कला दीर्घा द्वारा जन-जन में सांस्कृतिक चेतना मुखरित की।

११. सामान्य शिक्षा, नारी शिक्षा और नारी जागरण के क्षेत्र में आरा समाज का स्मरणीय योगदान रहा है।

१२. आरा नगर धार्मिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से वैभव सम्पन्न है।

१३. भवन में सुरक्षित महत्त्वपूर्ण सम्पदा में अनुसन्धान की पर्याप्त संभावनाएँ हैं। उनकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए।

सन्दर्भ

१. बाल्मीकि रामायण, बाल काण्ड, अध्याय २४।
कनिंघम, एन्शिएण्ट ज्योग्राफी ऑफ इंडिया, पृ० ७१६।

२. महाभारत आदिपर्व ७५।
एम० एम० विलियम, संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, पृ० २५५।

३. डॉ० राजाराम जैन, शोध, नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, आरा, अंक-५, पृ० ४०।

४. "मिती माघसुदी ५, सं० १८८१ श्री मूल संघे भ० विश्वभूषण जी, भ० देवेन्द्र भूषण जी, भ० सुरेन्द्र भूषण, भ० लक्ष्मी भूषण, भ० जिनेन्द्र भूषण जी देव, भ० महेन्द्र भूषणेन विंब प्रतिष्ठा कृता गोपाचले पूरब दिशा में कारुष देशे सोणभद्रतटे आरामपुर नगरे अगरवाले जैनधर्मी समसा पंचश्रावकनि के मन्दिर में रथजात्रा जो में को पंचनिके माथे विराजमान सर्वें नमंति श्री।"

—पार्श्वनाथ, पंचायती मन्दिर, आरा का मूर्ति लेख।

५. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग-३०, किरण-२, पृ० ४९।

६. वही, भाग-२३, किरण-१, पृ० ८६।

७. वही।

८. जैन सिद्धान्त भवन ग्रन्थावली, भाग-१, सम्पादकीय पृ० २, देवकुमार जैन प्राच्य शोध संस्थान, आरा, सन् १९८७।

९. जै० सि० भा० १२-१, पृ० ४७।

१०. "मिती फागुन वदी १५, संवत् १९८४ श्री जैन सिद्धान्त भवन लिखितं भुजवल प्रसाद जैन मालथौन जिला सागर।

—जैन सिद्धान्त भवन ग्रन्थावली, भाग-१, परिशिष्ट क्र० ३७।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

"संवत् १९८९ वर्षे आश्विन मासे कृष्ण पक्षे अष्टम्यां तिथौ श्री आरानगर्यां श्री स्व० देवकुमारेण स्थापित श्री जैन सिद्धान्त भवने तत्पुत्र बाबू निर्मलकुमारस्य मंत्रित्वे, श्री पं० के० भुजवली शास्त्रिणः अध्यक्षत्वे च संग्रहार्थमिदं पुस्तकं लिखितम् । शुभमस्तु ।"
—वही, क्र० १५ ।

"श्री शुभमिति आश्विन कृष्ण पंचमी गुरुवार वीर सं० २४६० विक्रम सं० १९९० को यह पुस्तक लिखकर पूर्ण भई । हस्ताक्षर रोशन लाल लेखक । आरा जैन सिद्धान्त भवन में प्रतिलिपि की गई ।"
—वही, क्र० ६२ ।

"These two Prashastees of Shri धवल सिद्धान्त and जयधवल सिद्धान्त are personally copied from श्री सिद्धान्तशास्त्र at गुरुवस्ति in Moodbidri for the sake on the, Central Jain Oriental Library aliar श्री सिद्धान्त भवन at Aarah, on the 30th August 1912 at 10.30 am. to 12.30 am."

By the most humble
जिनवाणी सेवक
तात्या नेमिनाथ पाँगल
बार्शी–टौन

—वही क्र० ३७३ ।

११. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग--२, किरण--३, पृ० ११९ ।

१२. "इति श्री जम्बू स्वामी की कथा सम्पूर्ण । मिति श्रावणवदी ३, वार रवित्रार सन् १८८३ साल । दस्तखत दुरगा प्रसाद जैनी, आरे ।"

—जैन सिद्धान्त भवन ग्रन्थावली, भाग–१, परिशिष्ट क्र० ५३ ।

"इति दुधारस द्वादशी कथा समाप्ता । लिख्यतां प्रभूदास अग्रवाला । मिति वैशाख ९, शुक्रवार संवत् १९१८ ।"
—वही, क्र० ३५ ।

"इति श्री दशलाक्षणी उद्यापन जी सम्पूर्ण ज्येष्ठ कृष्ण ११, एकादश्यां भौमवार १ बजे दोपहर को संवत् १९५५ आरामपुर निजग्रह में बाबू हरी दास पूज्य दादा वृन्दावन जी के पोते वो पुज बाबू अजित दास के पुत्र ने लिखा ।"
—वही, क्र० ८३१/२ ।

"इति पद्मावती पूजा चारुकीर्ति कृत सम्पूर्णम् । मिति माघवदी ३०, वार बुध सं० १९६६ आरा नगर मध्ये लिखतं भट्टारक मुनीन्द्र कीर्ति अंगरेजी राजधानी में काष्ठासंघे माथुर गच्छे पुस्कर गणे लोहाचार्याम्नाये भट्टारक राजेन्द्र कीर्ति तत्पट्टे भ० मुनीन्द्र कीर्ति समये ।"
—वही, क्र० ६२७ ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

१३. "इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे दशमोऽध्यायः समाप्तः। श्री पटणामधे साहब विलदाश तस्य पुत्र साहभगवतिदास तस्य पुत्र आलमचन्द पठनाय संवत् १७७२ वर्ष कार्तिक कृष्ण नवमी तिथौ सोम दिने सम्पूर्णम् ।"

—जैन सिद्धान्त भवन ग्रन्थावली, भाग–२, क्र० १२१५ ।

१४. लिखितं श्री पट्टणानगर मध्ये। लेखक पाठकयोः चिरं जीयात् ।—जैन सिद्धान्त भवन ग्रन्थावली, भाग–१, क्र० २६७ ।

१५. "संवत् १८८४ मासोत्तमे मासे चैत्रमासे शुक्ले पक्षे सप्तम्यां भौमवासरे। पुस्तकमिदं **रघुनाथ शर्मा** लेखि। **पट्टनपुर मध्ये** गायघाट क्षत्री महलमध्ये निवास शुभमस्तु कल्याणमस्तु। सिद्धिरस्तु मंगलमस्तु पुस्तकं लिखापितं जिनवरदास जी ने।"

—वही, भाग–१, क्र० ४८ ।

१६. "अथ श्रीसंवत्सरे नृपति श्रीविक्रमादित्यराज्ञः संवत् १८५१ चैत्रमासे शुक्लपक्षे सप्तम्यां तिथौ रविवासरे **पट्टनपुर** नगरे लिखितमिदं महापुराण उदेराम ब्राह्मणेन। शुभम्।"

—वही, भाग–१, क्र० २ ।

१७. "अथ श्रीसंवत्सरे नृपतिश्री विक्रमादित्यराज्ञः संवत् १७७३ आषाढ़े मासे शुक्लपक्षे चतुर्थी तिथौ भौमवासरे **पाटलिपुरे** नगरे लिख्यतमात्मने ब्रह्मचारिणा सानंदेन।"

—वही, भाग–१, क्र० ३ ।

१८. "इति पंचकल्याणक पूजा संपूर्णम्।
"वाडग्रामे शुभस्थाने गंगा तटनिवासितं।
लिखित्वा शिवप्रसादेन विप्रवंशेन धीमता ॥"

—वही, भाग–१, क्र० ८९७ ।

१९. "इति रक्तपद्मावती कल्प समाप्तम्। संवत् १७३८ वर्षे कार्तिक सुदी १३ रवौ **श्री औरंगाबाद नगरे** श्री खटतर श्री वेगमुगवै भट्टारक श्री जिनसमुद्र सूरि विजय राज्ये तत् शिष्य सौभाग्य समुद्रेण एषा प्रतिलिपि कृता।"

—वही, भाग–१, क्र० ७४३ ।

२०. "इति श्री नंददासेन कृता मानमंजरी नाममाला संपूर्णम्। शुभमस्तु। पाठकस्य शुभं भूयात्। संवत् १८०६। शाके १६७१ पौष वदि अष्टमी गुरुवासरे **पुरैनिआं नगरे फतेहपुर ग्रामे** श्रीखेंदु पाण्डेय पुस्तकमिदं लेखि।"

—वही, भाग–२, क्र० १२५७ ।

२१. "स्वस्ति श्री काष्ठासंघे माथुर गच्छे पुष्कर गणे लोहाचार्याम्नाये भट्टारक दिल्ली पठाधीशां श्री १०८ राजेन्द्र कीर्ति देवास्तेषां शिष्य पण्डित **परमानन्देन रचितमिदं** शुभ संवत्सरे १९४७ मिति फालगुण कृष्ण तृतीयायां गुरु वासरे पूर्व दिशायां **सारन देशे छपरा नगरे** पार्श्व जिन चैत्यालये संध्यायाः गतसप्त घटतां रात्रौ। स्वज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थम्।"

—वही, भाग–१, क्र० ९१५ ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

"इति श्री द्रव्यसंग्रह समाप्तम् । लिखितं भट्टारक मुनीन्द्रकीर्ति छपरा नगर मधे पार्श्वनाथ जिन दीर्घ मन्दिरे संवत् १९४८ मि० भा० सु० १ । वा० शु० । प्रातकाल समाप्तं शुभं भूयात् ।"

—वही, भाग–१, क्र० २१४ ।

२२. "इति शील माहात्म्य कथा सम्पूर्णम् । दस्तखत दुरगा प्रसाद मिति कुवार (आश्विन) सुदी १४ सोमवार को बाबू केशोदास की कवीला सुमतदास की महतारी ने चढ़ाया पंचायती मन्दिर में गया जी के ।"

—वही, भाग–१, क्र० १२९ ।

२३. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग–९, किरण–१, पृ० ३० ।

२४. वही, भाग–२३, किरण–१, पृ० ९१ ।

२५. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग–४, किरण–२, पृ० १२८ ।

२६. वही, भाग–४१, किरण–१, पृ० १६ ।

२७. शोध, आरा नागरी प्रचारिणी पत्रिका, आरा, अंक–५, पृ० ४१ ।

२८. सुबोध कुमार जैन, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग–३०, किरण–२, पृ० ५८-६५ ।

२९. वही, पृ० ५४-५७ ।

३०. शोध, आरा नागरी प्रचारिणी पत्रिका, आरा, अंक–५, पृ० ४१ ।

प्राकृत एवं जैनागम विभाग
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी–२२१००२

■

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

श्वेतम्बराचार्य विजयधर्म सूरि जी का आरा-प्रवास

—श्री सुबोध कुमार जैन

श्री जैन सिद्धान्त भास्कर भाग—१८, किरण--१, जून १९५१ में पृष्ठ ४८ पर श्रीयुत पं० हरिनाथ द्विवेदी काव्य-पुराण-तीर्थ का लिखा एक संस्मरण छपा है। इसमें अन्य कई बातों के अतिरिक्त लगभग सन् १९०५ ई० में काशी की यशो विजय श्वेताम्बर जैन पाठशाला के अधिष्ठाता का १५-२० छात्रों तथा एक व्याकरण अध्यापक के साथ आरा में राजर्षि देवकुमार जी के निमंत्रण पर शुभागमन तथा उनका आरा में कुछ दिनों तक आवास का विस्तृत वर्णन दिया है। इसे मैं पाठकों की जानकारी के लिए नीचे दे रहा हूँ।—

"काशी की यशोविजय श्वेताम्बर जैन पाठशाला के अधिष्ठाता परम विद्वान् तथा प्रकृत विरक्त श्री विजयधर्म सूरिजी महाराज पाठशाला के १५-२० छात्रों तथा एक व्याकरणाध्यापक के साथ आरा में पधारे थे। यहाँ आपका शुभागमन कैसे हुआ था, यह मुझे ज्ञात नहीं। क्योंकि आरा में श्वेताम्बर श्रावक एक भी नहीं था, बहुत संभव है कि धार्मिक भावना से ओतप्रोत बाबू साहब आरा की जनता को कृतार्थ करने के लिए श्री सूरिजी महाराज को आग्रहपूर्वक यहाँ लिवा लाये हों। आप ही सूरिजी महाराज के अनन्य आतिथेय थे। श्रीसूरिजी चार-पाँच दिनों तक यहाँ रह गये थे। एक बड़े भारी जैनाचार्य आये हुए हैं, नगर में इसकी बड़ी धूम थी। श्री शान्तिनाथजी के विशाल मन्दिर के सुविस्तृत प्रांगण में प्रतिदिन आपका प्रवचन होता था जिसका सदुपयोग जैन मण्डली बड़ी श्रद्धा से करती थी। श्रीसूरिजी की बिदाई के दिन बाबू साहब ने पूज्य गुरुजी (महामहोपाध्याय पण्डित रामसकल शर्मा) को भी बुलाया। आपका अन्तेवासी मैं भला क्यों नहीं साथ में रहता। आपने श्री सूरिजी से परिचय दिया कि हमारे यह पण्डित जी बिहार के गण-मान्य विद्वानों में हैं और हम सबों का सौभाग्य है कि आप यहीं के रहने वाले हैं। सूरिजी ने अपनी सहज शान्तिशीलता की सुधा धारा प्रवाहित करते हुए जैन-दर्शन तथा षड्दर्शन सम्बन्धी विचार-विनियम करके कहा कि आप जैसे सद्विवेचक विद्वान् ही जैनदर्शन के स्याद्वाद-सिद्धान्त के प्रति जो अन्यान्य ब्राह्मण विद्वानों के हृदय में भ्रान्त धारणा घर कर गयी है उसे दूर कर सकते हैं। अन्त में गुरुजी से आपने कहा कि मेरे साथ में कुछ छात्र आये हुए हैं। इनकी आप परीक्षा लें। गुरुजी प्रत्येक छात्र से पाठ विषयक मार्मिक बातें पूछकर उनके संतोषजनक उत्तर से तो आप अत्यधिक प्रभावित हुए ही। अन्त में सब छात्रों को "राजते महती सभा" यह समस्या पूर्ति करने को दी। सबों ने बहुत शीघ्र भावपूर्ण समस्या पूर्ति करके दे दी। किन्तु एक श्याम वर्ण प्रज्ञाचक्षुजी ने सब पूर्तियों से विशिष्ट वीररसाप्लुत

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अत एव ओजोगुणगर्भित अपनी सुन्दर पूर्ति सिंहनाद स्वर में कह सुनायी। गुरुजी ने सूरिजी से कहा कि यह प्रज्ञाचक्षुजी कालान्तर में बड़े अपूर्व विद्वान् होंगे। यह दिव्य दृश्य देखकर उस समय बाबू देवकुमारजी के रोम-रोम मानो हर्ष-गद्‌गद, भक्तिविह्वल एवं तन्मय से हो रहे थे। ज्ञात होता था कि आपकी धर्म प्रवणता तथा विद्यारसिकता रूपी उत्ताल तरंगमय तटिनी-पति अपनी मर्यादा का अब उल्लंघन करना ही चाहता है। अन्त में आपने प्रचुर मात्रा में बहुत मूल्यवान् द्रव्यादि से सभी छात्रों और अध्यापक महोदय को पुरस्कृत कर अपनी अनुदार उदारता एवं पुनीत-आतिथेयता का परिचय दिया। अन्ततोगत्वा आपके भक्तिभरित तथा सात्विक आतिथ्य सत्कार और नैष्ठिकता से परम प्रसन्न एवं प्रभावित होकर सूरिजी ने कहा कि बाबू देवकुमार बड़े ही निश्छल एवं दूरदर्शी जैन धर्मात्मा हैं। यदि अन्यान्य धनीमानी जैनी भी आप ही के समान धर्म और विद्या के प्रचार से समाजोत्थान की चेष्टा करें तो जैनधर्म का महत्त्व व्यापकता को धारण कर ले और "जैन" शब्द के पीछे जो श्वेताम्बर और दिगम्बर ये मतभेद सूचक शब्द जुड़े हुए हैं—कालान्तर में निरर्थक से जान पड़ने लगें।"

इस लेख के लेखक पं० हरिनाथजी द्विवेदी एक विद्यार्थी के रूप में लगभग १९०१ ई० में आरा अपने गाँव से आये थे और यहाँ के सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् महामहोपाध्याय एवं सकलनारायण जी शर्मा का पत्र लेकर राजर्षि बाबू देवकुमार जी से मिले थे और फिर उनसे आर्थिक सहायता लेकर उन्होंने आरा में अपनी शिक्षा पूरी की थी। कालान्तर में बाबू देव कुमारजी ने उन्हें अपने दोनों पुत्रों बाबू निर्मलकुमारजी और बाबू चक्रेश्वरकुमार जैन के संस्कृत शिक्षक के रूप में नियुक्त किया। सन् १९०८ में बाबू देवकुमारजी की अकाल मृत्यु के उपरान्त उनके द्वारा स्थापित श्री जैन सिद्धान्त भवन में प्रथम पुस्तकालयाध्यक्ष के रूप में उनकी नियुक्ति हुई और श्री जैन सिद्धांत भवन के प्रथम अंक के सम्पादक के रूप में भी उन्होंने अमूल्य सेवा की थी। तत्पश्चात् उन्होंने सन् १९२९-३० के लगभग मुझे तथा मेरे छोटे भाई संतोषकुमार को भी संस्कृत की शिक्षा दी थी। वे संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् थे और आरा नगर के टाउन हाईस्कूल में प्रधानाध्यापक भी थे। अपने गुरु सकलनारायण शर्मा विद्यावाचस्पति की संस्कृत शिक्षण-शाला, नारायण विद्यालय में भी संस्कृत की शिक्षा देते थे और स्वयं वहीं संस्कृत की शिक्षा भी पाई थी।

उपर्युक्त लेख अध्ययन करने के उपरान्त मैं अपने पूज्य पितामह 'पं० प्रवर बा० प्रभुदास लेखमाला' तैयार करने के क्रम में भास्कर की पुरानी फाइलों को देख रहा था, तब बनारस से आज से लगभग ८० वर्ष पूर्व आए हुए श्वेताम्बर विद्वान् के विषय में और अधिक जानकारी हासिल करने के लिए श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान के निदेशक डॉ० सागरमल जैन को पत्र लिखा था। उनका पुनः उत्तर मुझे प्राप्त हुआ है, जिससे मैं यह लेख तैयार कर प्रकाशित कर रहा हूँ। और, इस प्रकार इस सुरुचिपूर्ण ऐतिहासिक यात्रा के विषय में एक उपयोगी जानकारी प्राप्त हो जाती है। इसके लिए मैं डॉ० सागरमल जी को अपनी ओर से धन्यवाद देता हूँ। इसी क्रम में मैं अपने पूज्य पिता जी के तथा हमारे संस्कृत के पूज्य शिक्षक

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पं० हरिनाथ जी द्विवेदी की स्मृति में भी अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ, जिनके लेख के माध्यम से इस ऐतिहासिक कथा का सूत्र मुझे प्राप्त हुआ।

डॉ० सागरमल जी जैन, वाराणसी के पत्र की लिपि—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, आई० टी० आई० रोड, वाराणसी—२२१००५।

आदरणीय श्री सुबोध बाबू,

आपका स्नेहपूर्ण पत्र मिला जो श्वेताम्बर मुनि आपके पितामह के समय आरा पधारे थे, वे अंग्रेजी कोठी, ठठेरी बाजार में यशोविजय पाठशाला के संस्थापक आचार्य विजयधर्म सूरि जी थे। अब उनका स्वर्गवास हो चुका है और वह पाठशाला भी कभी से बन्द हो गई है। उस विवरण में जिस प्रज्ञाचक्षु छात्र का उल्लेख हुआ है वे स्वनामधन्य पं० सुखलाल जी ही थे। उसी पाठशाला से पं० सुखलाल, पं० बेचरदास तथा पं० हरगोविंद दास आदि अनेक स्तर के विद्वान् निकले थे। एक समय में उस पाठशाला में श्वेताम्बर परम्परा में विद्वान् तैयार करने हेतु वैसा ही स्थान था जैसा दिगम्बर में स्याद्वाद महाविद्यालय का रहा है। उसी संस्था के विद्वान् पं० सुखलाल जी एवं पं० बेचरदास जी की प्रेरणा से स्थापित यह पार्श्वनाथ विद्याश्रम है जिसकी गतिविधि से आप सब परिचित ही हैं। आपके स्नेह का अत्यन्त आभारी हूँ। सम्भव हुआ तो बाबूजी के संस्मरण का कहीं उपयोग करूँगा।

स्नेह और कृपादृष्टि बनाये रखें।

आपका

सागरमल जैन

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैनधर्म में काल-गणना

—श्री गणेशप्रसाद जैन

काल की उपमा चक्र से दी गई है। 'चक्र' का अर्थ है गोलाकार घूमने वाला, अर्थात् चक्कर लगाने वाला। अर्थात् जिस पर गाड़ी का पहिया, अथवा घड़ी की सुई १२ के अंक से प्रस्थान कर अवनत होकर वह छः के अंक पर पहुँचती है और वहाँ से प्रस्थान कर वह अपने मूल स्थान १२ पर पहुँच जाती है। उसी प्रकार कालचक्र भी अपने मूल स्थान से प्रस्थान कर अवनत होकर नीचे आता है और फिर वहाँ से प्रस्थान कर उन्नत होता हुआ पुनः अपने मूल स्थान पर पहुँच जाता है। इस प्रकार 'काल-चक्र' को पूरा चक्कर लगाने में एक कल्प अर्थात् २० बीस कोड़ाकोड़ी सागर समय लगता है।

यह एक कल्प अर्थात् २० कोड़ा-कोड़ी सागर की अवधि दो भागों में बँटी हुई है। एक अवनतिरूप अर्थात् ह्रासरूप जिसे अवसर्पिणी-काल कहते हैं, यह १० कोड़ाकोड़ी सागर की अवधि का होता है। दूसरा उन्नति रूप (विकसित) काल १० कोड़ाकोड़ी सागर की अवधि का होता है, इसे उत्सर्पिणी-काल कहा जाता है।

इन दोनों विभागों अर्थात् अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के भी छः छः उप-विभाग हैं—अवसर्पिणी काल के प्रथम इस विभाग का नाम है—१ सुषमा-सुषमा, २. सुषमा, ३. सुषमा, दुःषमा ४. दुःषमा-सुषमा, ५. दुःषमा और ६. दुःषमा-दुःषमा। इन छः विभागों के पूर्ण हो जाने पर उत्सर्पिणी काल के उपविभाग प्रारम्भ होते हैं, उनके नाम हैं—१. दुःषमा-दुःषमा, २. दुःषमा, ३. सुषमा-दुःषमा, ४. दुःषमा-सुषमा, ५. सुषमा और छठाँ सुषमा-सुषमा होता है।

अवसर्पिणी का प्रथम विभाग 'सुषमा-सुषमा' काल चार कोड़ा-कोड़ी सागर की अवधि वाला होता है। इस अवधि में मनुष्य की आयु तीन पल्य की होती है। शरीर की ऊँचाई तीन कोस की (छः हजार धनुष या १२००० गज की) होती है। मनुष्य अत्यधिक सुन्दर और सरल चित्त होते हैं। भोजन की इच्छा उन्हें तीन दिन बाद होती है और वह भोजन कल्प-वृक्ष से प्राप्त करते हैं, भोजन की मात्रा बेर बराबर की होती है। इन्हें मल-मूत्र की बाधा नहीं होती, कोई बीमारी या रोग नहीं होता, पुरुष और स्त्री एक ही पेट से एक साथ जन्म लेते हैं। युवा होने पर पति-पत्नीवत् रहते और व्यवहार करते हैं। वस्त्राभूषण भोगोपभोग की सम्पूर्ण प्रकार की सामग्री दस प्रकार के कल्प-वृक्ष से प्राप्त होती है। किसी प्रकार का उन्हें उद्यम नहीं करना होता। कल्प-वृक्ष पृथ्वी-जाति के परमाणुओं के होते हैं, वनस्पति वृक्ष सरीखे नहीं। पुत्र-पुत्री के जन्म होते ही माता-पिता की तत्काल मृत्यु हो जाती है, बालक-बालिका अपने अँगूठे चूस कर ४९ दिनों में पूर्ण युवा-युवती बन जाते हैं। स्त्री (पत्नी) व पुरुष (पति) दोनों की मृत्यु एक साथ होती है। मृत्यु काल में स्त्री को छींक और पुरुष को जँभाई आती है। इस समय में क्रम से

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आयु, शरीर की ऊँचाई आदि काल बीतते क्रम से स्वयं कम होती जाती है। इसे भोगभूमि काल कहा गया है। इसे उत्तम भोगभूमि कहा गया है।

अवसर्पिणी का दूसरा विभाग 'सुषमा' काल तीन कोड़ा-कोड़ी सागर की अवधि वाला होता है। इसका नाम मध्यम भोगभूमि कहा गया है। इसके प्रारम्भ से मनुष्य की ऊँचाई घटकर तीन कोश से दो कोस (अर्थात् ८००० गज की), आयु तीन पल्य से घटकर दो पल्य की, भोजन दो दिन बाद बहेड़े के बराबर। भोगोपभोग की सम्पूर्ण सामग्री भी इस विभाग में कल्प-वृक्ष से ही प्राप्त होती थी। सूर्य-चन्द्रमा का प्रकाश भी ज्योतिरंग जाति के कल्पवृक्षों से प्राप्त होता था। सिंहादि पशु भी शान्त स्वभाव वाले होते थे। इस काल में कोई महाराजा या राजा नहीं होता था।

पश्चात् अवसर्पिणी का तीसरा विभाग सुषमा-दुःषमा नाम का दो कोड़ा-कोड़ी सागर की अवधि का आता था। इस विभाग में मनुष्यों की आयु एक पल्य की और ऊँचाई एक कोश (अर्थात्–४,००० चार हजार गज की) होती थी। इस विभाग काल में मनुष्य एक दिन बाद आँवले के बराबर खाते थे। इसमें आयु व शरीर की ऊँचाई आदि सब कुछ क्रम से घटते जाते हैं।

यद्यपि सृष्टि-विधान के इतिहास का प्रारम्भ अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल-चक्र के प्रथम विभाग से प्रारम्भ होता है। किन्तु प्रकृति के इतिहास का प्रारम्भ इसी तीसरे विभाग के अन्त वाले हिस्से से ही होता है। क्योंकि इस तीसरे विभाग के अन्त तक मनुष्यों को विना परिश्रम के भोगोपभोग-सामग्री कल्पवृक्षों से ही प्राप्त होती रहती है और इसमें धर्म-कर्म का कोई आचरण भी नहीं रहता, जिससे कि मनुष्यों की जीवनचर्या में कोई परिवर्तन हो।

इस तीसरे उपविभाग सुषमा-दुःषमा के अन्तिम भाग में कुलकरों (मनुओं) की उत्पत्ति होती है। कुलकरों की उत्पत्ति के पूर्व मनुष्य व नारियों का कोई नाम नहीं होता, स्त्रियाँ पुरुषों को आर्य और पुरुषवर्ग नारियों को आर्ये कहकर सम्बोधित करते थे। इस विभाग में कोई वर्ण-भेद न होकर सब समान एक सरीखे ही थे। इसके पश्चात् अवसर्पिणी का चौथा विभाग व्यालीस (४२) हजार वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागर का होता है। इसका नाम 'दुषमा-सुषमा' है। इसके प्रारम्भ में मनुष्य की आयु ८४ चौरासी लाख पूर्व की और शरीर की ऊँचाई ग्यारह सौ गज की होती है, और अन्त में जाकर शरीर की ऊँचाई ७ हाथ की रह जाती है। इस काल को कर्म-भूमि कहा गया है। क्योंकि इसमें मनुष्य को जीवनयापन के लिये व्यापार आदि कर्म करना पड़ता है। राज्य, व्यापार, धर्म, विवाह, विद्याध्ययनादि समस्त कार्य करना पड़ता है। इसी काल में समस्त कार्य काल के प्रारम्भ से करने पड़ते हैं, इसी हिस्से में जीवनयापन की व्यवस्था चलाने के अन्यान्य साधनों की उन्नति प्रारम्भ होती है। इसी काल में २४ तीर्थंकर भी उत्पन्न होते हैं और तपस्या द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर अपने से धर्म का प्रकाश करते हैं। इसी चौथे विभाग तक ही मोक्षमार्ग प्रचलित रहता है, इसके बाद मोक्ष जाना बन्द हो जाता है। इस काल की उपाधि 'सतयुग' है। १२ चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ बलभद्र और नौ प्रतिनारायण शलाका पुरुष भी इसी चौथे विभाग में होते हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इसके पश्चात् अवसर्पिणी विभाग का पाँचवाँ हिस्सा दुःषमा नाम का आता है, यह इक्कीस हजार वर्ष का होता है। इसमें मनुष्य की शरीर की आयु-बल और ऊँचाई काफी कम हो जाती है। इसमें प्रारम्भ में तो सात हाथ का शरीर आयु १२० (एक सौ बीस) बरस की होती है। पश्चात् प्रति हजार वर्ष में पाँच वर्ष आयु घटती जाती है। काल की अवधि के अन्तिम भाग में दो हाथ की शरीर की ऊँचाई और २० बीस वर्ष की आयु रह जाती है। इस काल में मानव मांस-भक्षी और वृक्षों पर बन्दरों सरीखा निवास करने वाले होते हैं। धर्म का सर्वथा अभाव हो जाता है।

अवसर्पिणी के छठे भाग दुःषमा-दुःषमा में और भी अत्यधिक अवनति हो जाती है। इस काल की अवधि भी २१०० इक्कीस हजार वर्षों की होती है। इस काल के समाप्त होने में केवल ४९ दिन बाकी रह जाता है, तब धूल ७ दिन, हवा ७ दिन, जल ७ दिन, अग्नि ७ दिन, पत्थर ७ दिन, मिट्टी ७ दिन और लकड़ी की ७ दिनों तक वर्षा प्रबलता से होती है, और प्रबलता व भयंकरता के कारण आर्यखण्ड के सम्पूर्ण मनुष्य, पशु-पक्षी, नगर, ग्राम, देश, महल, भवन आदि नष्ट हो जाते हैं। शास्त्रकारों ने इस ४९ दिन की अवधि को प्रलय-काल की संज्ञा दी है। केवल मात्र ऐसे प्राणी (जीव) जो माता-पिता के संयोग से उत्पन्न होते हैं, उनके कुछ युगल जिनका विशेष पुण्य होता है, उन्हें देवलोग ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों की गुफाओं इत्यादि में ले जाकर उनकी सुरक्षा कर उन्हें जीवित बचा लेते हैं। यहीं अवसर्पिणी काल का छठा भाग पूर्ण होकर समाप्त हो जाता है।

अब उत्सर्पिणी का विभाग प्रारम्भ होता है, यह उन्नति या विकास रूप होता है, प्रत्येक विभाग में क्रमशः उन्नति होती जाती है, इसके विभागों के नाम—१-२१००० इक्कीस हजार वर्ष दुःषमा-दुःषमा, २. भी २१००० वर्षों का दुःषमा, इसके बाद ३. सुषमा दुःषमा, ४ दुःषमा-सुषमा, ५. सुषमा और छठाँ, सुषमा-सुषमा पूर्ण होकर उत्सर्पिणी पूर्ण होने पर पुनः अवसर्पिणी चालू हो जाता है।

प्रथम विभाग दुःषमा-दुःषमा काल के प्रारम्भ में जिन मनुष्य व पशु-पक्षियों तथा अन्य युगलों को देवों ने उनके पुण्योदय से पहाड़ों की कन्दराओं आदि में सुरक्षित रख जीवित बचा लिया था, वे पृथ्वी पर उतर कर नयी सृष्टि का विधान प्रारम्भ करते हैं। इसी दिन अर्थात् भादों शुक्ल ५ को दश-लाक्षणी प्रारम्भ कर धर्म कार्य प्रारम्भ करते हैं। आगे छहों अवसर्पिणी काल के विभाग में जैसे बराबर गिरावट आती रही उसी क्रम से इन छः विभागों में उन्नति विकास होता जाता है। इसमें तीसरे अथवा अवसर्पिणी के चौथे भाग के समान पुनः २४ तीर्थंकरादि ६३ शलाका पुरुष होते हैं और धर्म की प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती रहती है। इस कर्म-भूमि के बाद चौथे काल में जघन्य भोगभूमि (अवसर्पिणी के तीसरे काल के समान) और पाँचवें में मध्यम भोगभूमि एवं छठें में उत्तम भोगभूमि होकर उत्सर्पिणी-काल पूरा होता है।

उपरोक्त प्रकार से आर्य-खण्ड में समय का परिवर्तन निश्चित रूप से होकर कल्प पूरा होता है। वर्तमान में अवसर्पिणी का पाँचवा भाग दुःषमा व्यतीत हो रहा है। इसकी अवधि २१००० वर्ष में लगभग २४५० बीत चुके हैं।

ठठेरी बाजार, वाराणसी

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा

—डॉ० (श्रीमती) सुनीता जैन

जैनधर्म में भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भक्ति की अवधारणा, उपास्यतत्त्व, भक्ति के विभिन्न अङ्ग तथा भक्ति के प्रयोजन का विस्तृत विवेचन इस कथ्य को प्रमाणित करता है। प्राचीन प्राकृत आगम एवं आगमिक साहित्य से लेकर संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी तथा विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में निबद्ध साहित्य में भक्ति से सम्बद्ध सामग्री विपुल मात्रा में उपलब्ध होती है। स्वतंत्र रूप से भी भक्ति विषयक साहित्य निर्मित हुआ।

यह सब होते हुए भी जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा का अब तक सम्यक् मूल्यांकन नहीं किया गया। इसके जो भी कारण रहे उनमें एक कारण विशेष रूप से अभिव्यक्त होता रहा है कि जैनधर्म ज्ञानमार्गी है और उसमें भक्ति का महत्त्व नहीं है। इस कथन के मूल्यांकन के लिए जैनधर्म की सैद्धान्तिक मान्यताओं को समझना आवश्यक है।

तात्त्विक, सैद्धान्तिक दृष्टि से जैन चिन्तन अन्य भारतीय चिन्तन परम्पराओं से भिन्न है। साधना पद्धतियों में भी स्पष्ट अन्तर है। प्रयोजन की दृष्टि से भी जैन चिन्तन अन्य मान्यताओं से भिन्न है। इस कारण यह स्वाभाविक है कि अन्य परम्पराओं में भक्ति की जो अवधारणा है और उसका जिस रूप में विवेचन है, उसका मेल जैन भक्ति की अवधारणा से नहीं खाता।[१]

जैन परम्परा एकेश्वरवादी नहीं है। वह सृष्टिकर्तृत्व को भी स्वीकार नहीं करती। परमब्रह्म की अवधारणा तथा निःश्रेयस या मोक्ष के स्वरूप में भी स्पष्ट अन्तर है। इस सबके कारण स्वाभाविक रूप से भक्ति के विवेचन में भी स्पष्ट अन्तर है। यही कारण है कि 'स्वर्गकामः यजेत्' और 'शतक्रतुः' की अवधारणा, उपनिषदों का परब्रह्म, भागवद् की माधुरी उपासना, गीता के श्रीकृष्ण, आड्वारों की वैष्णव भक्ति, तुलसी के राम और सूर के कृष्ण की विभोर कर देने वाली साधना-भक्ति, शैवों, शाक्तों, कोल, कापालिकों, अघोर-पंथियों की विकट तान्त्रिक साधनाएँ, महायानी बौद्धों की वज्रसाधना, सहजयानी सिद्धों की सहज साधना, सूफी सन्तों का इश्क, कबीर का निर्गुण ब्रह्म, नाथों की योग-साधना और ऐसी ही अन्य पद्धतियों से जैन भक्ति में स्पष्ट भिन्नता है।[२]

जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा को समझने के लिए उपास्यतत्त्व, उपासक और उपासना के अंग तथा प्रक्रिया को जानना आवश्यक है। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

में भक्ति से सम्बन्धित विशिष्ट शब्दावलि का प्रयोग किया गया है, जिसका क्रमशः अर्थविस्तार भी हुआ है और शब्दावलि में वृद्धि भी। भक्ति के लिए प्राचीन शब्द 'उवासणा' था।[3] इसके आधार पर महावीर के शिष्यों को 'समणोवासय', 'समणोवासिया' शब्दों से सम्बोधित किया गया।[४] भक्ति के लिए 'पज्जुवासणा' शब्द का प्रयोग हुआ।

प्राकृत में भक्ति के लिए 'भत्ति' शब्द का व्यवहार मिलता है।[५] 'आराहणा' शब्द का प्रयोग भी पर्याप्त प्राचीन है।[६] भक्ति के सन्दर्भ में 'सामाइयं'[७] और 'वैय्यावृत'[८] शब्दों के अर्थ की विकासयात्रा का पता लगाना अपने आप में एक स्वतन्त्र अध्ययन की अपेक्षा रखता है। वंदण-णमंसण, थुदि, अच्चण-पुज्जण भक्ति परिवार की प्राचीन शब्दावली में प्रयुक्त हैं।[९] इन्हीं आधारों पर वन्दना, नमस्कार, स्तुति, स्तव, स्तोत्र, अर्चना, पूजा आदि विधाओं का साहित्य निर्मित हुआ, जो प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी भाषाओं में समान रूप से उपलब्ध होता है।[१०]

प्राचीन प्राकृत साहित्य में 'कीर्त्तन' और 'शरणागति' के सन्दर्भ भी प्राप्त हो जाते हैं, जिनके आधार पर भक्ति के विविध अंगों का विकास हुआ। कुन्दकुन्द ने 'कित्तिस्से' शब्द का प्रयोग किया है। कीर्तन के अन्तर्गत गुणस्तवन, स्तुति, नामजप, नामस्मरण, नामसंकीर्तन आदि आ जाते हैं।[११]

अर्चना-पूजा का उल्लेख कुन्दकुन्द ने किया है,[१२] किन्तु यह सच है कि उत्तरकाल में मूर्तिपूजा के विस्तार के साथ उपासना के इस अंग का जितना आडम्बरपूर्ण विकास हुआ उतना भक्ति के अन्य किसी अंग का नहीं हुआ। जैन भक्ति में 'शरणागति' का प्राचीनतम रूप 'चत्तारिसरणं' में प्राप्त होता है। अर्हन्त, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म की शरण को प्राप्त होने की बात कही गई है—'चत्तारिसरणं पव्वज्जामि।'[१३] हिन्दी पद साहित्य में उक्त सभी विधाएँ स्पष्ट रूप से प्राप्त होती हैं। इस प्रकार भक्ति की अवधारणा के साथ ही भक्ति के विविध अंगों और प्रकारों की विपुल सामग्री प्राप्त होती है।[१४]

जैन परम्परा में भक्ति का प्रयोजन उसकी तत्त्वमीमांसीय मौलिकता पर विवेचित है। कुन्दकुन्द प्रत्येक भक्ति के अन्त में कहते हैं कि दुःख का क्षय, कर्म का नाश, बोधि लाभ, सुगति गमन, समाधिमरण तथा जिन-गुण-सम्पत्ति प्राप्त हो—दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहि-लाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसम्पत्ति होइ मज्झं।[१५]

जैन मनीषियों ने भक्ति का चरम लक्ष्य निःश्रेयस माना। उन्होंने भक्ति को निःश्रेयस का साक्षात् हेतु भी नहीं माना, परम्परया हेतु माना, फिर भी भक्ति को अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हुआ।[१६] भागवद् भक्ति से भिन्न सैद्धान्तिक मान्यता के कारण जैन कवियों ने जन्म-जन्मान्तरों तक चरण सेवा या शरणागति नहीं चाही प्रत्युत 'तब लों लीन रहौं प्रभु जब लौं न पाया मोक्षपद मैंने' कहकर भक्ति में तभी तक तल्लीनता चाही, जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होता। लौकिक समृद्धि, दुःख और विपत्तियों से निवारण को भक्ति के आनुषंगिक प्रयोजन में यह कह कर समाहित कर लिया गया है कि वृक्ष के नीचे बैठने पर जैसे छाया स्वयं होती है वैसे ही भक्ति से दुःख और विपत्ति तो स्वतः दूर होते हैं।[१७]

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उपास्यतत्त्व एवं भक्ति के अन्य उपादानों के अन्तर्गत जिन[१८], जिनवाणी[१९] और जिनमार्गी[20] या दूसरे शब्दों में देव, शास्त्र, गुरु, तथा स्तूप, चैत्य[२१], जिनप्रतिमा, जिनालय, देवकुल तथा तीर्थों का विवेचन किया गया है। भक्ति के क्षेत्र में मूर्तिपूजा एक प्रबल और प्रभावकारी आधार के रूप में प्रतिष्ठित हुई तथा सामाजिक जीवन को इसने सर्वतः परिव्याप्त कर लिया।[२२] परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की पूजा विधियों का विकास हुआ और विभिन्न धाराओं में उनका व्यापक आदान-प्रदान हुआ। इतना ही नहीं इस पारस्परिक विनिमय में अनेक देवी-देवता तथा अन्य उपादान भी परिगृहीत होते गये।[२३]

वास्तव में जिन, जिनवाणी और जिनमार्गी या दूसरे शब्दों में देव, शास्त्र और गुरु भी जिन, देव या परमात्मतत्त्व के अन्तर्गत समाहित हैं।[२४] यह परमात्मतत्त्व भी आत्मा स्वयं ही है, इस दृष्टि से उपास्यतत्त्व 'अप्पा' या आत्मा ही है। देव, शास्त्र और गुरु तो उसकी भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ हैं। साध्य और साधक दोनों आत्मा स्वयं है। यह द्वैत तभी तक प्रतीत होता है जब तक सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं होती। अन्ततः उपास्य और उपासक का द्वत भी समाप्त हो जाता है।[२५]

इस प्रकार जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा को समझने के लिए जैनधर्म के मर्म को समझना आवश्यक है। सतही अध्ययन और पूर्वाग्रह से ऊपर उठकर जैन वाङ्मय के अन्तः परिशीलन से ही यह संभव होगा। विद्वानों का ध्यान अब इस ओर जाना चाहिए। मैंने अपने शोध प्रबन्ध में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की भक्ति काव्य परम्परा से लेकर जैन कवियों के हिन्दी पद साहित्य के आलोक में इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

सन्दर्भ

१. दृष्टव्य—संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भक्ति-काव्य परम्परा में जैन कवियों का हिन्दी पद साहित्य—एक समालोचनात्मक अध्ययन—डॉ० सुनीता जैन।
२. —वही—प्रथम अध्याय।
३. सुस्सूसमाणो उवासेज्जा........।—सूयगडं १।९।
४. समणोवासय, समणोवासिया।—उवासगदसाओ,—णायाधम्मकहासुत्त २।
५. अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः।—सर्वार्थसिद्धि, ६।२४। विशेष विवरण के लिए दृष्टव्य—दशभक्त्यादिसंग्रह।
६. वृत्तिजातसदृष्ट्योदस्तद्गतातिशयेषु या।
उद्योतादिषु सा तेषां भक्तिराराधनोच्यते॥—अन० ध० २।९८
विशेष विवरण के लिए दृष्टव्य—भगवती आराधना।
७. आप्तसेवोपदेशः स्यात्समयः समयार्थिनाम्।
नियुक्तं तत्र यत्धर्मं तत्सामायिकमूचिरे॥—उपासकाध्ययन, आ० ८।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

८. णियसत्तिए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि ।
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं ।।—भावपाहुड, गाथा १०५ ।

९. अभिगमण-वंदण-णमंसण-पडिपुच्छण-पज्जुवासणयाए समणं भगवं महावीरं वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि ।—उवासग० १।१० ।

१०. किदियम्मं चिदियम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च ।
कादव्वं केण कस्स कथं व कहिं व कदि खुत्तो ।।
कदि ओणदं कदि सिरं कदिए आवत्तगेहिं परिसुद्धं ।
कदि दोसविप्पमुक्कं किदियम्मं होदि कादव्वं ।।—मू० आ० । ५७५-५७६-५७७ ।

११. उसहादि जिणवराणं णामणिरुत्ति गुणाणुकित्तिं च ।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्ध पणमो थओ णेओ ।।—मूलाचार, गा० १।२४ ।
अरहंते कित्तिस्से·······।—तीर्थंकर भक्ति, गा० २ ।

१२. णिच्चकालं अच्चेमि पूजेमि·······।—भत्तिसंगहो ।

१३. चत्तारि सरणं पव्वज्जामि । अरहंते सरणं पव्वज्जामि ।
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि । साहू सरणं पव्वज्जामि ।
केवलीपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ।—चतुसरण ।

१४. विशेष विवरण के लिए दृष्टव्य—संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भक्ति काव्य परम्परा में जैन कवियों का हिन्दी पद साहित्य—डॉ० सुनीता जैन ।

१५. भत्तिसंगहो, कुन्दकुन्द भारती के अन्तर्गत प्रकाशित ।

१६. एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम् ।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ।।—पूज्यपाद, समाधि भक्ति श्लोक ८ ।

१७. इति स्तुतिं देवं विहाय दैन्यात् वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात् कश्छायया याचितयात्मलाभः ।।—विषा० स्तोत्र, ३८ ।

१८. थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंतजिणे—तीर्थंकर भक्ति, गाथा १-२ ।

१९. जिणवाणि णमस्समि सत्ति पयासमि सग्गमोक्खसंगमकरणं ।—महापुराण-पुष्पदंत ।

२०. सुस्सूया गुरुणं····भगवती आराधना, गा० ३०० ।
थोस्सामि गुणधराणं····योगि भक्ति ।

२१. यावन्ति सन्ति लोकेऽस्मिन्नकृतानि कृतानि च ।
तानि सर्वाणि चैत्यानि वन्दे भूयांसि भूतये ।।—चैत्य भक्ति ।

२२. यथाशक्ति यजेतार्हद् देवं नित्यमहादिभिः ।—सागारधर्मामृत २।२४ ।

२३. जैनधर्म में मूर्तिपूजा : ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक दृष्टि—डॉ० सुनीता जैन ।

२४. णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद सहाउ ।
जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ।।—परमप्पपयासु १।१७ ।

२५. पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ।—दव्वसंगहो । गाथा—५९ ।

२, महाजन टोली, आरा

●

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

महावीर स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे

—डॉ० शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी

अंधकार रूपी भ्रान्तियों को सूर्य किरणवत् विनष्ट करने वाले, सांसारिक ज्वालाओं को, जिनका स्मरण मात्र ही शान्ति देने वाला है, वे भगवान महावीर मेरे नयन पथगामी हों—ऐसे देदीप्यमान तीर्थंकर को रूपायित करने की परम्परा अनादिकाल से मानी जाती है किन्तु यहाँ पर मथुरा शैली के कुछ प्रतीक, प्रतिमालेखीय, साक्ष्य एवं प्रतिमाओं के द्वारा ईसा पूर्व प्रथमशती से लेकर दसवीं शती ईसवी तक के इनकी स्मृति के कालजयी निदर्शनों को वर्णित करने की अनुमति चाहूँगा। यह सभी कलारत्न राज्य संग्रहालय, लखनऊ की अक्षय निधि हैं।

सर्वप्रथम मथुरा शैली में भगवान महावीर को प्रतीक चक्र (जे० २४८) आयागपट्ट के रूप में दर्शाया गया है तथा इसके एक ओर "नमो महावीर...." उत्कीर्ण पाते हैं। दूसरे पट्ट पर मध्य में भद्रासन प्रातिहार्य के मध्य एक मत्स्य है। नीचे लेख "णमो अर्हतां वर्धमानस्य...." (जे० २५६) ये प्रतीक लिपि की दृष्टि से ईसा पूर्व प्रथमशती से लेकर ईसवी सन् की प्रथम-शती तक के प्रतीत होते हैं।

महावीर के भ्रूण का प्रत्यारोपण

कल्पसूत्र के अनुसार महावीर का भ्रूण ब्राह्मणी सुनन्दा के गर्भ में था चूँकि महावीर की माँ क्षत्राणी होनी चाहिए थी अतः इन्द्र ने महावीर के भ्रूण को सुनन्दा की कोख से हटा-कर त्रिशला की कोख में प्रत्यारोपित करने का काम नैगमेष को सौंपा। इस फलक के नीचे "भग नैग......" ही बचा है। श्वेताम्बर परम्परा में ही इसे मान्यता प्राप्त है। इस मत को जैकोबी, लूमान और ब्यूलर मानते थे। दिगम्बर सम्प्रदाय ने इस कथानक को श्रीकृष्ण सत्यभामा की पुत्र प्राप्ति के कथानक से जोड़ने का प्रयास किया है और नैगमेष को सत्यभामा की पुत्र प्राप्ति के बाद कृतज्ञता ज्ञापन के हेतु पूजा में तत्पर दृष्टि के रूप में पहचाना गया है। इसका समर्थन जैन विद्वान् श्री कामताप्रसाद जैन एवं डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन प्रभृति विद्वानों ने भी किया है।[1]

संकलन में महावीर की कई बैठी हुई प्रतिमाएँ हैं जिसमें जे०–१६ सिरविहीन सम्वत् ३५ + ७८ = ११३ ई० की प्रतिमा किसी एक गन्ध व्यापारी के दान से बनायी गयी है इसी प्रतिमा की मात्र विशेषता है कि नीचे के लेख की पट्टी के बाँयी तरफ अन्तिम सात अक्षरों

---

१. जैन निबंधमाला, कंकाली की पुरासम्पदा, जोशी नी० पु० व रस्तोगी शैलेंद्र कुमार, पृ० ८८,१९७७ आनन्द संस्थान, रामपुर उ० प्र०

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

महावीर ५वीं शती गुप्तकाल टीला वेलुर, मथुरा

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

से पूर्ण एक आकृति वंदन मुद्रा में अंकित है। लेख में "वर्धमान" उल्लिखित है। अतः यह निःसंदेह वर्धमान की प्रतिमा है।

मथुरा कला की खड्गासन प्रतिमा भी इनकी उपलब्ध होती है। एक प्रतिमा जे०—२ सम्वत् २९९ तथा द्वितीय पंक्ति में......."महावीरस्य प्रतिमा तथा देवकुलच" महत्त्वपूर्ण है। चरण चौकी के लेख के बाँयीं तरफ एक खण्डित उपासक तथा दाँयीं तरफ दो उपासक रहे होंगे। अब दोनों के आभास मात्र हैं। मध्य में अर्धवृत्ताकार डांट के ऊपर गद्दी तथा उस पर दो पंजे (चरण-चिह्न) शेष हैं। चूंकि लेख में महावीर प्रतिमा का उल्लेख है। अतः इन चरण चिह्नों को भगवान महावीर के चरण चिह्न न मानने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

एक संग्रह में अति सुन्दर गुप्तकाल की आसनस्थ मथुरा के लाल चित्तीदार पत्थर की गढ़ी तीर्थंकर प्रतिमा है। (चित्र देखिए)। यद्यपि इस पर कोई लेख तो नहीं है किन्तु सर्पगणों, जटाओं व बलराम और श्रीकृष्ण आदि न होने के कारण इस प्रतिमा को भगवान महावीर को प्रतिमा मानने में कोई भी आपत्ति नहीं प्रतीत होती है। यह प्रतिमा इतनी सुन्दर है कि इसे देखकर सहसा नीचे लिखे हुए महाकवि पुष्पेन्द्र के भाव मस्तिष्क में गूँज उठते हैं—

"जग पर निछावर हो जाना स्वर्ग यही निर्वाण यही।
सबको अपना बन्धु समझना सबसे ऊँचा धर्म यही।।"

यों तो सर्वतोभद्र या चौमुखी बनाने की परम्परा कुषाण काल से प्राप्त होती है इनमें जटाओं, सर्पफणों व लेख के आधार पर तीर्थंकरों को पहचाना जा सकता है ये चौमुखी आसनस्थ अथवा कायोत्सर्ग दोनों ही स्थितियों में पायी जाती हैं, लेकिन गुप्तकाल में कुछ बैठी प्रतिमाएँ मिलती है। एक उल्लेखनीय चौमुखी भगवान महावीर की (जे० २३६) कंकाली टीला मथुरा की लखनऊ संग्रहालय में है जिस पर एक तरफ लेख है और जिसे सम्वत् १०८० में श्री विजयसूरि ने प्रतिष्ठित कराया। इस पर "वर्धमानस्य चतुंस्य चतुबिम्ब कारिता" खुदा है....।। अर्थात् यह वर्धमान की चौमुखी और इस प्रकार १०८०—५७ = १०२३ ई० की है। अस्तु इस पर चतुर्दिक "स्याद्वाद सूक्तिमणि दर्पण वर्धमान" ही बिम्बित है।

सहायक निदेशक, राज्य संग्रहालय, लखनऊ।
सम्पर्क २२३/१० रस्तोगी टोला, राजाबाजार, लखनऊ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

एरण में तोरमान उल्लेख

—अभयप्रकाश जैन

सागर नगर से ४७ मील उत्तर पश्चिम स्थित एरण (प्राचीन एरिकण) नामक स्थान पर किये गये उत्खनन से यहाँ के इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ा है। लेखक ने स्वयं जाकर इसे देखा है तथा अवशेषों को देखने के बाद लेख लिखने की प्रेरणा मिली। यहाँ तोटाराय या तोरमान का उल्लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह निश्चित ही वही हूण नरेश तोरमान हैं जिन्होंने गुप्तों की नींव हिला दी थी। कुवलयमाला के अनुसार तोरमान की राजधानी चन्द्रभागा नदी के तट पर पवाया नगर में थी। पन्ना जिले में पवाया की खुदाई में भी ऐसे अवशेष मिले हैं जिनमें हरिगुप्त का वर्णन है। हरिगुप्त जैन मतावलम्वी थे। कुलवलयमाला की गाथा ४ का भावार्थ इस प्रकार है गुप्तवंशज "हरिगुप्त" तोरमान के गुरु थे और ये भी यहीं के निवासी थे। यहाँ की खुदाई में जो मुद्रायें मिली हैं उन पर एक ओर सिंह की आकृति तथा दूसरी ओर गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि है। विदिशा संग्रहालय में रखी मुद्राओं और इन मुद्राओं में साम्य है। विदिशा संग्रहालय में बताया गया कि ये जैन राजाओं की मुद्रायें हैं।

एरण की खुदाई में लघु अश्मास्त्र, बर्तनों के टुकड़े, मिट्टी की मूर्तियाँ तथा विभिन्न पत्थरों एवं मिट्टी की गुरियाँ उल्लेखनीय हैं। कुछ भूरे रंग के मृत्पात्र भी हैं इन्हें मालवा वेयर नाम दिया गया है। एरण से प्राप्त उक्त वस्तुओं के आधार पर यहाँ की ताम्राश्मयुगीन सभ्यता का प्रारम्भ समय लगभग १९०० ई० पू० ठहरा है। इस सभ्यता के चिह्न म० प्र० महेश्वर-कामथा-नागदा, उज्जैन आदि स्थानों में प्राप्त हो चुके हैं। एरण नगर की प्राचीन रक्षा दीवार की ऊँचाई २१ फुट है तथा चौड़ाई १५४ फुट है। इस काल की प्राप्त अन्य वस्तुयें, सोने, चाँदी और ताँबे की मुद्रायें सिक्के, शंख की चूड़ियाँ हैं। ताँबे के सिक्कों में नागवंशी राजाओं की मुद्रायें तथा रामगुप्त की मुद्रायें भी हैं। हिन्द सासानी शासकों के भी सिक्के मिले हैं जिनमें हूण तोरमान की भी मुद्रायें हैं। पश्चिमी शक क्षत्रप राजा की मुद्रायें बनाने के लिये प्रयुक्त पकी मिट्टी के साँचे का एक टुकड़ा भी मिला है। एरण के उत्खनन से अनेक नाग शासकों के सिक्के मिले हैं। नागों का एक मुख्य केन्द्र विदिशा में था जहाँ उनके बहुसंख्यक सिक्के पाये जाते हैं। सबसे प्रथम लेख जो एरण में मिला था वह समुद्रगुप्त का है और अब कलकत्ता के संग्रहालय में है।

एरण से प्राप्त सासाणी सिक्कों से पता चलता है कि गुप्तकाल में हूणों का आधिपत्य एरण में था। तोरमान का एक लेख एरण की विशाल वराह मूर्ति पर उत्कीर्ण है। लेख तोरमाण के प्रथम राज्यत्वकाल का है। एरण से प्राप्त कुछ सिक्के इसी शासक के हैं। इनसे मालवा पर हूणों के आधिपत्य की पुष्टि होती है। गत शताब्दी में कनिंघम को धर्मपाल नामक एक दूसरे राजा की एक ताम्रमुद्रा एरण में मिली थी, उसका चित्र देखने पर पता चला उसकी ब्राह्मी लिपि भी अशोक की लिपि जैसी है। एक दूसरी मुद्रा उनको मिली थी जिस पर "महाराज देवगुप्तस्य" एक ओर और दूसरी ओर पुष्पसहित कलश अंकित है। यह शुभ चिह्न आज भी जैनियों के मध्य प्रचलित है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

१८ से २० श्लोकों में उद्योतन जी ने जाबालिपुर का वर्णन किया है जहाँ वे इस ग्रंथ का निर्माण किये थे। संभवतः यह जाबालिपुर आज का जबलपुर ही हो। सागर और जबलपुर पास-पास ही हैं।

तुंगमलंधं जिण भवण मणहरं सावयाड्‌डलं विसभं।
जाबालिपुर अट्ठावयं व अह अत्थि पुहईए॥
तुंग धवलं मणहारि रयणयसरंत धयवडाडो वं।
उसहजिणं दायतणं करावियं वीरभद्देण॥
तत्थट्ठिएणं अह चोद्दसीए चेतस्स कराहववक्खम्मि।
णिम्मविआ बोहिकरी भव्वाणं होउ सव्वाणं॥

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है, तोरमान के गुरु थे गुप्तवंशीय हरिगुप्त। इस लेख से स्पष्ट हो जाता है कि हरिगुप्त जैन मतावलम्बी थे किन्तु क्या यह संभव है कि विकट हूणाधिपति पराजित गुप्त जैन गुरु के समक्ष नतमस्तक होते? किन्तु यदि हरिगुप्त किसी अन्य गुप्त वंश के थे तो फिर वंश के उल्लेख की आवश्यकता ही क्या थी? किन्तु हम इस निष्कर्ष को मान लें कि तोरमान विजित गुप्तवंशीय अनुग्र जैन के शिष्य थे तब हमको यह भी मानना पड़ेगा कि विष्णुपासक गुप्तों के वंशों में कम से कम एक व्यक्ति तो ऐसा था ही जिसने कुल परम्परागत विष्णु की उपासना को भगवान महावीर के कठिन पथ के समक्ष त्याग दिया था। कुवलयमाला की पूना की हस्तप्रतिलिपि इनको बहुकलाकुशल सैद्धान्तिक मानती है।

एरण में प्राप्त तोरमान से सम्बन्वित उल्लेख से कुवलयमाला द्वारा प्राप्त सामग्री से साम्य रखती है—

१. उद्योतन सूरि क्षत्रिय थे वत्सराज और जयवाराह का शौर्य देश में शासन था, जाबालिपुर राजधानी थी।

२. तोरमान उत्तरापथ के शासक थे इनकी राजधानी पवैया, पवाया नगर में थी।

३. आठवीं शताब्दी में सागर-जबलपुर में जैनधर्म का विशेष प्रचार-प्रसार था।

४. कुवलयमाला में वर्णित तोरमान निस्संदेह हूणनरेश तोरमान ही हैं इन्होंने गुप्तवंशोद्भव हरिगुप्त को अपना गुरु स्वीकार किया।

सन्दर्भ—

१. म० प्र० का पुरातत्व पृष्ठ १७, १८ १९ प्रकाशन १९७० केन्द्रीय मुद्रणालय–भोपाल प्रो० के० डी० बाजपेयी
२. **Jain Antiquary in M. P. Page. 9, 10.**
३. कुवलयमाला की पूना की हस्त प्रतिलिपि
४. विदिशा संग्रहालय कैटलॉग
५. इण्ट्रोडक्शन टू कुवलयमालाकहा—डॉ० ए० एन० उपाध्ये

एन–१४ चेतकपुरी
ग्वालियर (म०प्र०) ४७४००९

●

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

राजगृह की प्राचीन जैन कला एवं स्थापत्य

सरस्वती भवन की प्राचीन जैन मूर्तियाँ

—डॉ० महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'

सन् १९७४ में आचार्य विमलसागर जी महाराज का विशाल संघ के साथ राजगृह में चातुर्मास हुआ था। उसी समय आचार्य श्री ने ज्ञान के एक विशाल केन्द्र की प्रेरणा दी और ६ नवम्बर को विमलसागर महाराज के गुरु महाराज की स्मृति में ''आचार्यश्री महावीरकीर्ति दिगम्बर जैन सरस्वती भवन'' का उद्घाटन हुआ। इस सरस्वती भवन में लगभग दस हजार पुस्तकों से युक्त पुस्तकालय के अतिरिक्त सर्वोदय तीर्थ प्रकाशन, वाचनालय, प्रवचन कक्ष और जैन चित्रकला प्रदर्शनी विभाग भी हैं।

जैन चित्रकला प्रदर्शनी को बाबू सुबोधकुमार जैन आरा ने अपने ज्येष्ठ भ्राता बाबू प्रबोधकुमार तथा कुछ स्वयं के द्वारा चित्रित चित्रों के साथ श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा के चित्रों और पुराने फोटो (तीर्थों के) सिद्धान्त भवन के तत्त्वावधान में स्थाई रूप से आयोजित करवाया है। इस प्रदर्शनी के मध्यकक्ष में प्राचीन-अर्वाचीन जैन मूर्तियों का संग्रह है। जो मूर्तियाँ मन्दिरों में प्रक्षालन से घिस गई या खण्डित हो गई या उत्खनन में मिली, ऐसी मूर्तियाँ यहाँ प्रदर्शित हैं। इन मूर्तियों का प्रकाशन अबतक नहीं हुआ है, कुछ मूर्तियाँ प्राचीन जैनकला की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण हैं। इस संग्रह में ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक की मूर्तियाँ हैं। कुछ का परिचय निम्न प्रकार है—

महावीर, धातु, कांस्य १५ से० मी०, (ख–२)

यह कांस्य मूर्ति समपादासन कायोत्सर्ग-मुद्रा में है। इसका उष्णीस लम्बा दो भागों में है। घुँघराले केशों का अंकन, कान स्कन्धों को छू रहे, ग्रीवात्रिवल का रेखांकन, श्रीवत्स चिह्न रहित, हाथ लम्बे घुटनों तक, कलाइयाँ कुछ अन्दर को मुड़ी हुई, जिससे अंगुलियाँ जंघा से स्पर्श कर रही हैं। नाभि का छोटा सा विवर, उदर-त्रिवली के दो बल, घुटनों का रेखांकन और चरण साधारण कुछ चौड़े-चौड़े हैं। यह तीर्थंकर मूर्ति एक गोल पतले पट्ट पर आसीन है, जिसकी किनारी पर छोटी-छोटी खड़ी रेखाएँ होने से सुन्दर दिखता है। इस पट्ट के नीचे एक पंक्ति-दल युक्त कमल है, उसके नीचे कमल के बराबर गोल पट्ट और उसके नीचे चार पायों-युक्त चौकोर पैडिस्टल है। इसी में ढला हुआ तीर्थंकर महावीर का चिह्न बड़ा मुँह खोले हुए सिंह है। इस मूर्ति पर कोई लेख नहीं है। यह मूर्ति उष्णीस, ग्रीवा-त्रिवली, नाभि, उदर-बल, कलाइयों का झुकाव, आसन और लांछन के अंकन में बानपुर से प्राप्त ऋषभनाथ और चन्द्रप्रभु की ग्यारहवीं-बारहवीं शती की उन कांस्य-प्रतिमाओं (जैन कला एवं स्थापत्य, भाग–२, भारतीय ज्ञानपीठ, चित्र संख्या १६०-१६१) से काफी साम्य रखती है, जो भुवनेश्वर संग्रहालय में प्रदर्शित है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

चतुर्विशतिपट्टिका, अष्टधातु २०½ × १२ से० मी० (ख–१४)

यह सपरिकर चतुर्विशति पट्टिका, प्रक्षाल-अभिषेक और मार्जन करते-करते इस तरह घिस गई है कि किसी तीर्थङ्कर का नाक-मुँह आदि स्पष्ट दिखाई नहीं देता है। इसलिए राजगृह के समीपस्थ स्थान के मन्दिर से संग्रहालय में लाई गई है। इसमें पद्मासन मूलनायक तीर्थङ्कर मूर्ति ४½ × ३½ से० मी० है। आसन और मूलनायक एक भाग में तथा परिकर और २३ तीर्थङ्कर दूसरे भाग में ढालकर आसन के दोनों ओर के छिद्रों में स्थिर किया गया है तथा मूलनायक के सिर के पीछे से एक कील निकली है जो प्रभावल के स्थान (प्रभावल नहीं है) की धातु में स्थिर की गई है।

मूलनायक के घुँघराले केश और उष्णीस सुन्दर हैं। कर्ण लम्बे हैं, जिनके अधोभाग कन्धों पर भी फैले हैं। मूलनायक के पार्श्वों में समपादासन में एक-एक अनुचर खड़ा है। ये अनुचर अपने एक-एक (मूलनायक को तरफ वाले दक्षिण, वाम) हाथ के ऊपर किए हुए चँवर के स्थान पर पूजा सामग्री लिए हुए हैं और उनका विरुद्ध-हस्त नीचे की ओर लम्बित है। इन सेवकों के ऊपर को उठाये हुए कन्धे से सिमटा हुआ अंगरखा लटक रहा है। ये अनुचर मुकुट धारण किये हुए प्रतीत होते हैं। इनके घुटनों तक धोती और दोनों पैरों के बीच से घुटनों के नीचे तक लटकता हुआ कमरबन्ध का छोर अंकित है। अनुचरों के ऊपर गगनचारी गन्धर्वों के स्थान पर एक-एक देव तीर्थङ्कराभिमुख वीरासन में बैठे हुए हैं। मूलनायक के मस्तक के ऊपर एक सुन्दर छत्र है। छत्र के दोनों तरफ सवार सहित एक गज है। छत्र के ऊपर बीच में एक दुन्दुभिवादक ढोल बजाता हुआ बैठा अंकित है। उसके दोनों ओर षट्दल-पुष्प का अंकन है।

मूलनायक के दोनों पार्श्वों में पद्मासन तीर्थङ्करों की खड़ी एक-एक पंक्ति है। प्रत्येक में छह-छह पद्मासन तीर्थङ्कर हैं। नीचे के प्रथम पद्मासन तीर्थङ्कर के पार्श्वों में एक-एक और छठवीं पद्मासनस्थ मूर्ति के एक पार्श्व में (परिकर के बाहरी ओर) एक खड्गासन प्रतिमा है। इसी तरह दूसरी तरफ की पंक्ति के साथ भी तीन खड्गासन तीर्थङ्कर मूर्तियाँ हैं। सबसे ऊपर बीच में एक तीर्थङ्कर और उसके दोनों ओर दो-दो पद्मासन मूर्तियाँ क्रम से कुछ नीचे को हैं, जिससे परिकर के ऊपरी भाग का अर्धवृत्त बनता है—अंकित हैं।

मूलनायक तीर्थङ्कर का आसन दो पायों पर बना गद्दीयुक्त अंकित है। गद्दी के नीचे विरुद्धाभिमुख दो सिंह अंकित हैं। सिंहों के बीच में लांछन सम्भवतः छोटा-सा वृषभ अंकित है, जो घिस जाने के कारण स्पष्टतः पहचाना नहीं जा रहा है; किन्तु कर्णों का लम्बा होना ऋषभनाथ की विशेषता है; इसलिए वृषभलांछन की सम्भावना और बढ़ जाती है। सिंहासन पर दाहिनी ओर एक भक्त और वाम भक्तिन बैठी है। सिंहासन के आसन पर आगे की एक पंक्ति में अस्पष्ट नवग्रहों के मुकुटयुक्त नव-मस्तक हैं। (बड़ौदा संग्रहालय में प्रदर्शित अकोटा के चतुर्विशति कांस्यपट्ट पर भी अष्टग्रहों के आठ मस्तकों का अंकन है)। और इस चतुर्विशति-पट्टिका पर सबसे नीचे एक राजपुरुष या यक्ष की आकृति है, जो समपादासन में खड़ा है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इसका दाहिना हाथ ऊपर को उठा हुआ है जिसमें खड्ग जैसा कोई आयुध है और वामहस्त नीचे को लम्बित है। इस मानवाकृति के सिर पर सम्भवतः मुकुट है, गले में गलहार और घुटनों तक सीधी लटकती हुई (राजकुमारों जैसी) धोती अंकित है। इस चतुर्विंशतिपट्टिका पर पीछे एक लेख है। जिसका कुछ अंश जो वाच्य है, इस प्रकार है—"सं० १५२८ आषाढ़ वदि ५ स क्रा। मूल संघे........"

पार्श्वनाथ पंचतीर्थी, अष्टधातु, १२×७ से० मी० (ख–५)

यह किसी मन्दिर की प्रतिष्ठित पूज्य प्रतिमा थी, जो घिस जाने के कारण संग्रहालय में लाई गई है। मूलनायक तीर्थङ्कर का सर्प के सप्तफण से मस्तकाच्छादन है। सर्प-फणों के मस्तकों पर मणि अंकित है। आँख-नाक-मुँह घिस गये हैं। इसके पार्श्वों में चँवरधारियों के स्थान पर दो सम्भवतः अर्हन्ताकृतियाँ हस्तलम्बित कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं। इनके ऊपर और फणमण्डल के दोनों तरफ एक-एक पद्मासन तीर्थङ्कर मूर्ति है। इस तरह यह पंचतीर्थीपट्ट है। जिसका प्रचलन तेरहवीं से सत्रहवीं शती तक बहुत रहा। कायोत्सर्गस्थ प्रतिमाओं के आगे नीचे एक-एक बैठी हुई आकृति है। जिनके मस्तक पर सर्प फण का आच्छादन है या जूड़ा बना है। और इन दोनों से आगे परस्पराभिमुख एक-एक अस्पष्ट आकृति है, जो सम्भवतः भक्तयुगल है। इस पंचतीर्थी पट्ट के पीछे अंकित लेख घिस जाने से उसमें का मात्र "सोमदेव" वाच्य है।

पार्श्वनाथ, पाषाण, ३१×२० से० मी० (ख–१५)

श्वेत पाषाण में शिल्पित यह तीर्थंकर प्रतिमा ध्यानमुद्रा में है और सप्तफणों से इसका मस्तकाच्छादन उत्कीर्णित है। सर्प का आकार फण से क्रमिक हीन होता हुआ तीर्थङ्कर की पीठ पर से आसन तक वगैर कुण्डली के पहुँचा है। जो अस्वाभाविक दिखता है। इस प्रतिमा के घुँघराले केश शिर पर आगे की तीन पंक्तियों में अंकित हैं। भौंहों का उभार है, नेत्रपूर्ण उन्मीलित, मुँह कुछ चपटा-सा और थोड़ा वाम झुका-सा है। श्रीवत्स उभरा हुआ, चूचकों का अंकन वृत्ताकार रेखाओं से किया गया है। नाभि सामान्य है। दिगम्बरत्व स्पष्ट अंकित है। इस प्रतिमा के शिल्पन में प्रतिमाशास्त्रीय नियमों का पालन नहीं किया गया है, फिर भी प्रतिमा मनोज्ञ है। यह मूर्ति ग्रीवा और सर्पफण से भग्न हो गई है। इसी तरह की एक नेमिनाथ की प्रतिमा राजगृह के लालमन्दिर की द्वितीय (श्रुतस्कन्ध के पास की) वेदी पर प्रतिष्ठापित है। विवेच्य प्रतिमा के आसन पट्ट पर भी सर्प लांछन रेखांकित है। इसी पट्ट पर एक लेख इस प्रकार है—

"संवत् १५४८ वर्षे वसाख सुदी ३ श्री मूल संघे भट्टारक श्री जिनचन्द्र देव स हा जीवराज पापड़ी वाल नित्य प्रणमत श्री संगे गासो संघ रावल सहर मुकाम ॥"

पार्श्वनाथ, अष्टधातु, ९×५ से० मी०, (ख–१)

पीतल की इस पद्मासन प्रतिमा पर सात फणों से मस्तकाच्छादन है। फणमण्डल के ऊपर बीच में एक बड़ी-सी खूँटी है जो मन्दिर-शिखर के एक कलश के आकार की है। इस

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रतिमा की बनावट सर्वथा अशास्त्रीय है। सिर बालों और उष्णीस की तरफ से दबा हुआ चपटा है, नेत्र बाहर को उभरे हुए और हथेलियाँ तथा पैर चौड़े-चौड़े हैं। पद्मासन मुद्रा में होते हुए भी इस मूर्ति के दोनों घुटने नीचे को झुके हुए सर्वथा अस्वाभाविक हैं। इस प्रतिमा पर एक अल्प लेख है जिसमें संवत् १७०१ उत्कीर्ण है।

तीन तीर्थंकर, अष्टधातु, (ख–७, ६, ८)

इस संग्रहालय में घिसी हुई पीतल की क्रमशः ४ × २½ से० मी०, ३½ × २ से० मी० और ३½ × २½ से० मी० तीर्थङ्कर मूर्तियाँ हैं। ये तीनों ध्यानमुद्रा में हैं। इनमें से प्रथम के आसन पट्ट पर एक अल्प लेख में सं० १७५१ उत्कीर्णित हैं। द्वितीय के लेख का मात्र "मूल संघे" वाच्य है और तृतीय पर कोई लेख नहीं है। इन मूर्तियों पर लांछन का अभाव है। ये तीनों मूर्तियाँ लगभग समकालीन हैं।

तीर्थंकर, पाषाण, ७ × ६½ से० मी०, (ख–३)

सिर विहीन यह पद्मासन मूर्ति एक गहरे हरित पाषाण पर शिल्पित है। ऐसे पाषाण की मूर्ति मैंने अन्यत्र कहीं नहीं देखी। यदि इस मूर्ति का सिर भी उपलब्ध होता तो समविभक्ताङ्ग यह मूर्ति एक बेजोड़ आकर्षक शिल्पकलाकृति होती। इसके चूचकों का उभार स्वाभाविक एक स्वस्थ पुरुष के जैसा है। वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न अंकित है; किन्तु नाभिका अंकन नहीं है। हथेली पर चक्र शिल्पित है। नीचे आसन पट्ट है, उस पर बीच में एक उभरा हुआ आयताकार लांछन अंकन का स्थान है। पट्ट पर एक लेख भी है। घिस जाने के कारण लांछन नहीं पहचाना जा सका, न ही लेख पढ़ा जा सका है। यह मूर्ति कहीं भूगर्भ से प्राप्त हुई है। किसी भोडरयुक्त मिट्टी में पड़े रहने के निशान इसमें अब भी मौजूद हैं। शिल्पन की शैलीगत विशेषताओं से यह मूर्ति दशवीं से बारहवीं शती के आसपास की प्रतीत होती है; किन्तु इसके आसन के शिल्पन की शैली इसे अठारहवीं-उन्नीसवीं शती में धकेल देती है; क्योंकि इस तरह के आसनों का अंकन पाषाण और धातु मूर्तियों में अठारहवीं शती से आधुनिकतम पाया जाता है।

शान्तिनाथ, पाषाण २० × ११ से० मी०, (ख–१६)

श्याम पाषाण की ध्यान मुद्रा में इस प्रतिमा के सिर पर आगे को दो पंक्तियों में घुँघराले केश, वक्ष पर उष्णीस, कर्ण कुछ बाहर को फैले हुए, नेत्र पूर्ण उन्मीलित, नाभि का छोटा त्रिकोण विवर, हथेलियों-तलुओं में रेखांकन और आनन सस्मित अंकित है। इस मूर्ति के दोहरे आसन पर लांछन हरिण रेखांकित है जो बैठा हुआ शशक-सा प्रतीत होता है। इसके आसन पर एक लेख भी है जिसमें संवत् १९५० अंकित है।

इनके अतिरिक्त ऋषभनाथ (ख–१७) अष्टधातु संवत् १९४३, पार्श्वनाथ (ख–४) भूरा, पीला पाषाण वी० सं० २४६२, महावीर (ख–१३) श्वेत पाषाण वि० सं० १९९३, ऋषभनाथ (ख–९) अष्टधातु वि० सं० २०२६, सिद्ध परमेष्ठी (ख–१२) वि० सं० २०२६

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

और दो अष्टधातु की अप्रतिष्ठित प्रतिमाएँ (ख–१०, ११) हैं जिन्हें अङ्गविन्यास आदि की दृष्टि से प्रतिष्ठा के अयोग्य समझा गया।

भारत में हजारों जैन मन्दिर हैं। उनमें स्थापित मूर्तियों का नित्यप्रति अभिषेक, प्रक्षालन, पूजन होता है। अनवरत प्रक्षालन होते रहने से मूर्ति का घिस जाना या चूक से गिरकर खण्डित हो जाना स्वाभाविक है। ऐसी मूर्तियों को कई स्थानों पर गहरे जल वाले तालाब-सरोवर या नदी में विसर्जित कर दिया जाता है। यह कार्य कई प्रबुद्ध व्यक्ति भी करवाते हैं। ऐसा करके हम जैन संस्कृति की प्राचीनता को नष्ट कर बहुत बड़ा अपराध करते हैं। जैन समाज से हमारा अनुरोध है कि घिसी हुई या खण्डित मूर्तियों को विवरण के साथ समीपस्थ या राजगृह के इस संग्रहालय में भेज दें। जिससे जैन कला और संस्कृति की प्राचीनता और व्यापकता से जनसामान्य परिचित होता रहे।

प्राकृत एवं जैनागम विभाग,
सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

●

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मगध और जैन संस्कृति

(मगध विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि हेतु शोध प्रबंध का प्रारूप)

—श्री सुभाषप्रसाद

अहिंसा प्रधान एवं जनहित प्रेरक धर्म के रूप में जैनधर्म का अपना महत्त्व रहा है। जैनधर्म एवं बौद्धधर्म के आचार्यों ने अहिंसा और जनहित की भावना को अपने धर्म में अंगीकार किया है। इस धर्म की अपनी संस्कृति रही है। इसके प्रणेताओं ने अपने धर्मोपदेशों से लोगों को सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र का ज्ञान देकर मोक्ष प्राप्ति के मार्ग को सुलभ बनाने का संकल्प लिया था।

जैनधर्म के उद्भव और विकास की कहानी से मगध सतत जुड़ा रहा और धर्म के प्रचार-प्रसार में अहं भूमिका भी निभायी थी। जैनधर्म के चौबीस तीर्थंकरों में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत का जन्म मगध के राजगीर में हुआ था। जैन स्रोतों के अनुसार ऋषभदेव के समय से ही बिहार में जैनधर्म का प्रकाश अनावृत हो चुका था। इन्हें मगध की भूमि अत्यन्त प्रिय थी। बिहार को चार तीर्थंकरों की जन्मभूमि होने का श्रेय प्राप्त है। ये हैं—स्वामी शीतलनाथ, मुनिसुव्रत नेमिनाथ और महावीर स्वामी। इन तीर्थकरों में अधिकांश ने मगध के समीपस्थ पार्श्वनाथ पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया था। इनमें सम्भवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, चन्द्रप्रभु आदि प्रमुख हैं। अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर महावीर का जन्म यद्यपि वैशाली में हुआ किन्तु उनकी मुख्य कर्मभूमि मगध ही रही। नालन्दा में उनकी कठोर तप-साधना से मुग्ध हो मक्खलि पुत्र गोशाल उनकी ओर आकृष्ट हुआ। आचारांग सूत्र में महावीर की कठोतम साधना का विवरण आया है। इसके अनुसार एवं प्रतिष्ठातिलक (१०/१५) के अनुसार मगध के 'जृम्भिका' ग्राम के समीप 'ऋजुकूला' नदी के तट पर महावीर ने वैशाख शुक्ल दशमी के अपराह्न में मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय चार घातिया कर्मों का क्षय कर सर्वज्ञ, वीतराग या अर्हत जीवन एवं परमात्म पद को प्राप्त किया।[1]

मगध की भूमि धन्य है जहाँ महावीर को केवलज्ञान मिला और बुद्ध ने बुद्धत्व को प्राप्त किया। महावीर ने अपना प्रथम उपदेश मगध में ही दिया था। नालंदा के इन्द्रभूति गौतम भगवान् महावीर के प्रियतम शिष्य थे, जिन्हें उनकी कृपा से मनःपर्ययज्ञान हुआ और गौतम गणधर (प्रथम गणधर) की गरिमा से गौरवान्वित हुए। केवलज्ञान की प्राप्ति के ६६ दिन के बाद इन्द्रभूति राजगृह में महावीर के दिव्य उपदेश से लाभान्वित हुए। इस दिन को 'वीर शासन-उदय' की संज्ञा से प्रसिद्धि मिली।[2]

---

१. निर्वाण भक्ति १२

२. तीर्थंकर वर्द्धमान, विद्यानंद मुनि, पृ० ६५

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन साहित्य में मगध को अत्यधिक आदर की दृष्टि से देखा गया है। मगध के तीर्थस्थल जैन, बौद्ध और हिन्दू संस्कृति के प्रमुख अंग रहे हैं जहाँ से आचार्यों की सुमधुर वाणियाँ, धार्मिक अन्धविश्वासों एवं धार्मिक कट्टरता से दूर, मात्र मानव कल्याण हेतु निःसृत हुई। जैनाचार्यों ने मगध को प्रमुख कर्मभूमि के रूप में स्वीकार कर यहाँ से सत्य, अहिंसा और विश्वबन्धुत्व का संदेश मानव-हित में दिया था।

जैन वाङ्मय में मगध जनपद के अन्तर्गत राजगृह, नंदपुर, कुसुमपुर, पाटलिपुत्र, नालंदा आदि अनेक बड़े नगरों की समृद्धि एवं सुग्राम, शालीग्राम, कुम्भग्राम, जीम्भकग्राम, उदण्डपुर, सुवर्णग्राम आदि अनेक ग्रामों की चर्चा करते हुए ग्राम्यजीवन पर प्रकाश डाला गया है। इनमें राजगृह की विस्तृत चर्चा राजधानी एवं प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में की गई है। राजगृह एक प्रसिद्ध नगर था। विविध तीर्थकल्प में राजगृह में छत्तीस हजार गृहों के होने का उल्लेख आया है। इसी प्रकार पाटलिपुत्र आदि की विस्तृत जानकारी जैन वाङ्मय में मिल जाती है।

मगध जनपद की भौगोलिक स्थिति की जानकारी भी जैन साहित्य से प्राप्त की जा सकती है। मगध की राजनीतिक सीमा, पर्वतश्रेणियों, नदियों आदि का ज्ञान देने में जैन साहित्य अच्छी सामग्रियों से युक्त है।

जैन साहित्य एक ओर जहाँ मगध के धर्म जैनधर्म और दर्शन पर प्रकाश डालता है वहीं इस साहित्य से मगध की तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति की जानकारी हो पाती है। कुवलयमाला (अनु० २४६ पृ० १५२) से मगध के व्यापारियों की श्री सम्पन्नता एवं उनके समृद्ध जीवन की झलक मिलती है। राजगृह और पाटलिपुत्र प्रमुख व्यापारिक नगरों में थे। पद्मचरित में मगध को सज्जनों की भूमि कहा गया है। यहाँ के व्यापारी अत्यन्त कुशल और मेधावी थे तथा आर्थिक लाभ को प्राप्त करते रहते थे।[1] पद्मचरित (२/४,८ एवं २/७९) से स्पष्ट होता है कि कृषि की दृष्टि से मगध समुन्नत था।

जैन साहित्य से मगध में जैनधर्म की व्यापकता, भगवान महावीर एवं उनके गणधर, आचार्य जैन मुनियों के कार्यों का विस्तृत ज्ञान हो पाता है। जहाँ तक मगधवासियों की कला-प्रियता का प्रश्न है, वे श्रृंगार प्रिय थे। आभूषणों का प्रयोग तो करते ही थे वे श्रृंगार प्रसा-धन की सामग्रियों से अवगत थे।

मगध की भूमि धर्म की दृष्टि से पवित्र रही है। साहित्य ने इस सन्दर्भ में अपना विस्तृत श्रद्धा-सुमन बिखेरा है। भगवान् महावीर एवं अन्य जैन आचार्यों की कर्मस्थली का प्रतीक मगध के तीर्थ अक्षय, अक्षुण्ण भारतीय धार्मिकता के शाश्वत, उदीयमान, उज्ज्वल प्रतीक हैं। प्राणों का अमूर्त्त धर्म इन तीर्थों की नैसर्गिक आभा में मूर्त्त हो गया है। जीवन की समस्त

---

१. साधूनां संगमः सद्भिर्भूमिर्लाभस्य वाणिजैः।
पञ्जरं शरण प्राप्तर्वज्रदारुविनिर्मितम् ॥ पद्मचरित २/४२

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विरूपताओं, दुर्धर्ष पाशविकता के शिलाखण्डों, अधार्मिक प्रवृत्तियों के शोषणजन्य रुद्र दृश्यावलियों से दूर मगध के सशक्त और जाग्रत जैन एवं बुद्ध तीर्थ मानव को चरम शांति का संदेश देते हुए धर्म प्रवर्तकों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

वस्तुतः मगध विभिन्न संस्कृतियों का संगम स्थल है। ये संस्कृतियाँ हैं—बौद्ध संस्कृति, जैन संस्कृति एवं हिन्दू संस्कृति। समय-समय पर इन संस्कृतियों को मगध के नरेशों ने संरक्षण देकर मानवों का परम हित किया है। बौद्ध संस्कृति के संरक्षकों में जहाँ अशोक आदि को महत्त्व दिया जाता है वहीं जैन-संस्कृति को प्रश्रय देने वालों में मगध नरेश बिम्बसार (श्रेणिक) तथा कलिंग नरेश खारवेल जो बाद में मगध के भी शासक हुए, की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

वस्तुतः जैन-बौद्ध और हिन्दू संस्कृति के प्रचार-प्रसार में मगध ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इसी क्रम में जैन साहित्यकारों ने मगध के वैभव, समृद्धि-संस्कृति और जीवन का सजीव चित्रण किया है। मगध के इतिहास के अध्ययन के क्रम में जैन संस्कृति का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। क्योंकि जैन संस्कृति तथा अन्य संस्कृतियों का मगध के इतिहास से विशेष सम्बन्ध है। आज का मगध भी जैन, बौद्ध एवं हिन्दू संस्कृति के संगमस्थल एवं प्रेरक स्थल के रूप में अपनी भूमिका निभा रहा है। प्राचीन काल में सांस्कृतिक दृष्टि से मगध ने भारत के साथ-साथ विश्व का मार्गदर्शन किया था। इस पृष्ठभूमि में मैंने इस शोध प्रबंध को निम्नांकित अध्यायों में विभक्त कर अध्ययन की योजना बनायी है। शोधप्रबंध सम्भवतः राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता की प्रेरणा का एक स्रोत हो सकता है।

अध्याय—

१. जैनधर्म का संक्षिप्त इतिहास
२. मगध के राजवंश और जैनधर्म
३. जैन साहित्य और मगध का भूगोल
४. जैनधर्म और धर्म के आचार्य
   (चौबीस तीर्थंकर एवं उनके शिष्य—गणधर)
५. भगवान महावीर की संक्षिप्त जीवनी एवं उनके उपदेश
६. मगध के जैन तीर्थ स्थल
७. जैन स्थापत्य और मगध
८. मगध की जैन मूर्त्तियाँ एवं चित्रकला
९. मगध की जैन संस्थायें एवं उनका सांस्कृतिक योगदान
१०. उपसंहार

—वर्द्धमान महावीर कॉलेज, पावापुरी

●

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आदिपुराण कालीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक विश्लेषण*

—श्रद्धानंद प्रसाद शर्मा

प्राचीन संस्कृति का समग्र चित्र प्रस्तुत करने के लिए शताब्दियों से देशीय वाङ्मय के विभिन्न स्रोतों का अध्ययन हो रहा है किन्तु अभी तक कुछ ही तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। प्रायः हिन्दू और बौद्ध साहित्य में अधिकाधिक शोधकार्य हुए हैं और उनसे प्राप्त सामग्रियों के माध्यम से प्राचीन भारतीय इतिहास की तत्कालीन अवस्थाओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु जैन साहित्य अभी तक उपेक्षित-सा रहा है। जैन साहित्य में भी यद्यपि ऐतिहासिक सामग्रियाँ भरी पड़ी हैं किन्तु उन्हें हम नहीं जान पाये हैं। वास्तविकता यह है कि जैन साहित्य भी महत्त्वपूर्ण है और उसमें ऐसे-ऐसे तथ्य हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं।

जैन-साहित्य में पुराणों का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है और ये जैन-संस्कृति के विश्वकोष हैं। पुराणों से पूर्ववर्त्ती साहित्य अनुयोग नाम से विख्यात है। इनमें तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के चरित्रों, कर्म सिद्धांत, कर्म बंध और उनके कारणों से होने वाली अन्यान्य घटनाओं, जीवादि, द्रव्यों और तत्वों तथा श्रावक एवं मुनियों आदि की चर्चायें आयी हैं तथा इनकी कुछ सुनिश्चित्त तिथियाँ भी उपलब्ध हैं। पुराणों में वर्णित गाथाओं की यथार्थता अधिक सुरक्षित है। इस क्रम में ऐतिहासिक दृष्टि से पुराणों का विशिष्ट महत्त्व है।

जैन पुराणकारों ने तत्कालीन विशाल भारत की विभिन्न सामाजिक अवस्थाओं, धार्मिक मान्यताओं, संस्कृति एवं उपासनात्मक साधनापद्धतियों तथा अर्थ व्यवस्था में समन्वय उपस्थित कर उसे एक सूत्र में गूंथकर जैन-संस्कृति की एक आदर्श मूर्ति का निर्माण किया। इस मूर्ति के प्रकाश में ही हम भारत के समग्र इतिहास को आलोकित कर सकते हैं। इसी पृष्ठ भूमि में मैंने आदिपुराण को अपने अध्ययन का आधार बनाया है। आदिपुराण की तिथि निश्चित है। इस पुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन, राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के गुरु थे। आदिपुराण आचार्य जिनसेन की अंतिम कृति है और इस पुराण का रचना-काल ८३७ ई० से ८४९ ई० के मध्य माना जाता है। अमोघवर्ष के गुरु होने के क्रम में आचार्य का सम्पर्क राज-परिवार से था और वे उस समय की राजकीय व्यवस्था से पूर्ण रूपेण अवगत थे। इस पृष्ठ भूमि में आदि पुराण पर दक्षिण भारतीय संस्कृति (कर्नाटक की संस्कृति) का स्पष्ट प्रभाव दीखता है।

आदिपुराण में चरित काव्य के तत्त्वों के साथ-साथ महाकाव्य के कतिपय तत्त्वों का समावेश पाया जाता है। इस पुराण के प्रथम अध्याय में सज्जन प्रशंसा, दुर्जन-निंदा, पूर्व कवि

---

* मगध विश्वविद्यालय की शोधोपाधि (पीएच. डी.) हेतु प्रस्तावित अनुसन्धान कार्य की रूपरेखा।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रशंसा आदि चरित काव्यों की रूढ़िगत विशेषतायें देखने को मिलती हैं। आदि पुराण की रूप-रेखा पुराण काव्य-सी है परन्तु बीच-बीच में कवि के काव्यात्मक चमत्कारिक प्रयोगों ने इसे महाकाव्य के निकट पहुँचा दिया है। फलतः पाठक को आदिपुराण की अनुभूति महाकाव्य की सी होती है। इस पुराण में ऋषभदेव तथा चक्रवर्ती भरत को छोड़कर अन्य राजाओं का उल्लेख हुआ है किन्तु आदिपुराण के प्रमुख चरित्र क्षत्रिय वर्ग से ही लिए गये हैं।

आदिपुराण के प्रारंभ में अर्हन्त देव की वन्दना की गई है। पश्चात् सम्पूर्ण पुराण की गाथा में कुलाचलों, षड् ऋतुओं, वनों, समुद्रों, वियोग-संयोग, स्वर्ग-नरक, यज्ञ, संग्राम, यात्रा मंत्र आदि का उल्लेख आया है। इसके अतिरिक्त, जीवन के विभिन्न व्यापारों एवं परिस्थितियों प्रेम, विवाह, संगीत, समाज एवं संगोष्ठी, राजकाज, मंत्रणा, दूत प्रेषण, सैन्य अभियान, व्यूह रचना, ग्रह एवं नायक के रूप में चक्रवर्ती की विजय आदि का भी काव्यात्मक विवरण प्राप्त होता है।

इस पुराण में धार्मिक प्रसंगों के वर्णन के क्रम में भौगोलिक, सामाजिक, दार्शनिक, राजनीतिक, आर्थिक, कला और विधि-व्यवहार आदि विषयों का भी यत्र तत्र उल्लेख हुआ है।

आदिपुराण में सामाजिक जीवन का सुन्दर और व्यवस्थित चित्रण हुआ है। इस पुराण में वर्णित समाज पारिवारिक जीवन से आरंभ होता है। पुराण में आये इस अंश—"आर्याणां कुल संस्त्यायकृतेः (आदिपुराण ३।२११) से ही पारिवारिक व्यवस्था की अनुभूति होती है। इस क्रम में समाज की रक्षा; "प्रजानां प्रीणनं" (३।६८) और" प्रजाः सुप्रजसः (३।१२८) अर्थात् प्रजा को प्रसन्न कर समाज के संवर्द्धन हेतु सन्तानोत्पत्ति की बात कही गई है।

व्यक्ति समाज का एक अंग है, उसे सामाजिक संरक्षण प्राप्त होना चाहिए। उसमें—"महतां चेष्टा परार्थेव निसर्गतः (१।१२८) अर्थात् सहयोग और कल्याण की भावना होन चाहिए। इस पुराण में तत्कालीन भारतीय समाज से संबंधित उपरोक्त तथ्यों के साथ-साथ अन्य सामाजिक पक्षों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है।

इस पुराण में तत्कालीन भारत की आर्थिक स्थिति की भी झलक मिलती है। आदि तीर्थंकर ने अपने पुत्र भरत को अर्थशास्त्र की शिक्षा दी थी। इस समय की अर्थव्यवस्था कल्याणकारी थी। इस युग के आर्थिक विचारों के अन्तर्गत—"अर्थं सम्मार्जनं, रक्षणं वर्द्धनं, पात्रे च विनियोजनम्" (१६।११९)—अर्थात् धन कमाना, अर्जित धन का रक्षण करना, पुनः उसका संवर्द्धन करना और योग्य पात्रों को दान देना आदि बातों को मान्यता दी गई है। वस्तुतः एक सुदृढ़ अर्थव्यवस्था को निरूपित करने के संदर्भ में पुराण के रचनाकार की बातें अत्यंत सहयोगी सिद्ध होतीं हैं।

आदिपुराण में धनार्जन के साथ-साथ विवेक को भी महत्त्व दिया गया है। लिखा गया है—"लक्ष्मी वाग्वनितासमागम् सुखस्यैकाधिपत्यं दधत्........" (४१।१५८) अर्थात् सरस्वती और लक्ष्मी का समान रूप से संतुलन ही सुख का कारण है। इसमें आर्थिक समृद्धि के क्रम में धर्म की मान्यता को भी महत्व दिया गया है। दूसरे शब्दों में यह कहं सकते हैं कि इस पुराण

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

के रचनाकार ने कौटिल्य की तरह अपनी आर्थिक नीतियों को आदर्श रूप देकर राष्ट्र और व्यक्ति की आर्थिक समृद्धि के मार्ग को प्रशस्त किया है।

जैन साहित्य का यह पुराण शोध का एक प्रमुख आधार है। इस पुराण को आधार मानकर तत्कालीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक विश्लेषण किया जा सकता है। अभी तक इस संदर्भ में शोध नहीं हो पाया है। अतः मैंने मगध विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि हेतु आदिपुराण को आधार ग्रन्थ मानकर तत्कालीन भारत के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन का अध्ययन करने की कल्पना की है।

यह कार्य पाँच अध्यायों में विभक्त है—

१. आदिपुराण—एक परिचय
२. आदिपुराण में वर्णित भारत का भौगोलिक विवरण
३. भारत की सामाजिक स्थिति
   - I. जातिगत स्थिति
   - II. पारिवारिक जीवन
   - III. स्त्रियों की दशा
   - IV. दैनन्दिनी
   - V. समाज में शिक्षा की स्थिति
४. आर्थिक स्थिति
   - I. आर्थिक विचार
   - II. आर्थिक समृद्धि के रूप
   - III. आजीविका के साधन—कृषि तथा कृषि के साधन
   - IV. शिल्प-कर्म
   - V. व्यापार
   - VI. व्यापारिक संगठन, मार्ग आदि
   - VII. आर्थिक आय के अन्य स्रोत
५. उपसंहार

■

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन सिद्धान्त भवन-आरा का ८९वाँ वार्षिक प्रतिवेदन (१९९१-९२)

श्रुतपंचमी पर्व एवं श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा के ८९वें वार्षिकोत्सव के अवसर पर हम आप सभी का हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

जैन साहित्य के अनन्य अनुरागी राजर्षि बाबू देवकुमार जी आरा द्वारा संस्थापित इस संस्था की ख्याति सर्वविदित है। उनके प्रेरणास्रोत पितामह पं० प्रवर बाबू प्रभुदास जी ने आज से १५० वर्ष पूर्व शास्त्रोद्धार का व्रत लिया था और बिहार एवं उत्तर प्रदेश में पैदल घूम-घूमकर घोर परिश्रम एवं प्रयत्न करके अनमोल ग्रन्थों का भण्डार एकत्रित किया था।

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका इन चारों के समूह का नाम जैनसंघ है। मध्यकाल में जैनसंघ की उन्नति और धर्म के स्थिरीकरण, जैन तीर्थों, मन्दिरों, मूर्तियों के निर्माण में लाखों रुपये खर्च हुए और वे तीर्थ प्रधान भक्ति केन्द्र बने। वास्तव में देखा जाय तो इतना ही महत्त्व जैनशास्त्रों व ज्ञानभण्डारों का भी है क्योंकि तीर्थंकरों एवं आचार्यों की वाणी इनमें सुरक्षित है। ज्ञान के बिना क्रियाकाण्ड इच्छित फलदायी नहीं हो सकता। देव, गुरु और धर्म का स्वरूप भी शास्त्रों द्वारा ही जाना जाता है।

कौशाम्बी में तीर्थंकर पदमप्रभु के जन्मस्थान पर, बनारस में भदैनी घाट स्थित तीर्थंकर सुपार्श्व प्रभु के जन्म स्थान पर, चन्द्रावती में तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभु के जन्मस्थान पर मन्दिरों और धर्मशालाओं के निर्माण के साथ शास्त्रों की सुव्यवस्था एवं स्वाध्याय की ओर सरस्वती पुत्र एवं लगन के धनी पंडित प्रवर बाबू प्रभुदास जी का ध्यान आकर्षित हुआ। उन्होंने कड़ी मेहनत कर सैकड़ों हस्तलिखित ग्रन्थों को इकट्ठा किया। सन् १९०३ ई० में जब भट्टारक हर्षकीर्ति जी महाराज आरा में आए, तब उनकी प्रेरणा से राजर्षि देवकुमार जी ने आज के दिन ८९ वर्ष पूर्व इस ग्रन्थागार की स्थापना कर एक अद्वितीय कार्य सम्पन्न किया। अपने पितामह बाबू प्रभुदास जी द्वारा पूर्व में एकत्रित हस्तलिखित ग्रंथों के भण्डार को श्री जैन सिद्धान्त भवन के लिए प्रदत्त कर पितामह बाबू प्रभुदास जी की मनोभावना को मूर्त रूप दिया। भट्टारक जी ने भी अपने शास्त्र भवन को समर्पित कर दिये। भवन की स्थापना उन्हीं के कर कमलों द्वारा हुई थी।

प्राचीन काल में लोगों की स्मरण शक्ति बड़ी प्रखर थी। इसलिए भ० महावीर की दिव्यध्वनि का कई शताब्दियों तक मौखिक रूप से पठन-पाठन होता रहा। किन्तु देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार लोगों की स्मरण शक्ति कम होने लगी। उस समय श्रुतधर आचार्य धरसेन जी महाराज को जब यह आभास हुआ कि ज्ञानधारा लुप्त होती जा रही है तो आगम ग्रंथों को लिपिबद्ध करने के निमित्त अपने दो शिष्यों—पुष्पदन्त और भूतबलि के सहयोग से

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैनधर्म के प्रमुख आगम षट्खण्डागम को लिपिबद्ध कराने का कार्य प्रारम्भ किया। उनके प्रथम शिष्य पुष्पदन्त अपने जीवनकाल में इसे पूरा न कर सके। तदुपरान्त द्वितीय शिष्य भूतबलि ने इसे आज के दिन ही याने ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को पूर्ण किया। इसी कारण आज का दिन श्रुत पंचमी के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ये शास्त्र पहले ताड़पत्रों पर लिखे जाते थे। धीरे-धीरे हस्तनिर्मित कागज का आविष्कार हुआ और इन कागजों पर ग्रन्थों के लिपिबद्ध किये जाने की परम्परा प्रारम्भ हुई। श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा में केवल जैन ग्रंथ ही नहीं अपितु जैनेतर सभी धर्मों के अनेक हस्तलिखित–ग्रंथ संग्रहीत हैं।

आज इस ग्रंथगार में १२,०४६ छपी हुई हिन्दी, बंगला, कन्नड़ आदि भाषाओं की पुस्तकें तथा ४७४० अंग्रेजी की पुस्तकें हैं। ६,६०० हस्तलिखित कर्गलीय एवं १७०० ताडपत्रीय ग्रंथ सुव्यवस्थित ढंग से संग्रहीत हैं।

इस वर्ष १९९१-९२ में १५० हिन्दी की छपी पुस्तकें एवं अंग्रेजी की ४३ पुस्तकें बढ़ीं। समय-समय पर इन ग्रन्थों का **Stock Checking** एवं सुरक्षा हेतु दवाएँ भी आल्मारियों में डलवायी जाती हैं। पिछले तीन माह पूर्व **Stock checking** एवं सुरक्षा का कार्य पुस्तकालयाध्यक्ष एवं सह-पुस्तकालयाध्यक्ष के द्वारा करवाया गया है।

श्री जैन सिद्धान्त भवन ग्रन्थागार के प्रकाशन विभाग द्वारा श्री जैन सिद्धान्त भास्कर **Jain Antiquary** का प्रकाशन १९१२ से लगातार होता आ रहा है। इनमें जैन साहित्य, पुरातत्व, इतिहास, कला सम्बन्धी महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञान-प्रदीपिका, प्रतिमालेख संग्रह, प्रशस्ति संग्रह, मुनिसुव्रत काव्य, वैद्यसार आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पूर्व में प्रकाशित हुए हैं। वर्तमान में 'सचित्र जैन रामायण', श्री जैन सिद्धान्त भवन ग्रन्थावली भाग १ एवं २ तथा जैन सिद्धान्त भास्कर के भाग १ से ३० तक के छपे लेखों की सूची पुस्तक रूप में प्रकाश में आई है। इसके अतिरिक्त हम दुर्लभ ग्रन्थों की जीरॉक्स प्रतियाँ भी देश-विदेशों में इच्छुक पुस्तकालयों एवं विद्वानों को भेज रहे हैं।

श्री जैन सिद्धान्त भवन के हॉल का सदुपयोग अनेक धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों हेतु किया जाता है जैसे कि सरस्वती पूजा, श्रुत पंचमी, वार्षिकोत्सव, कविगोष्ठी, भाषण प्रतियोगिता एवं महावीर जयन्ती, गणतंत्र दिवस, शास्त्र प्रवचन आदि। आरा नगर के मध्य अनुपम, शान्त एवं स्वच्छ वातावरण में स्थित यह ग्रन्थागार एक दर्शनीय एवं वन्दनीय स्थल है। इसके कण-कण में व्याप्त धर्म, कला एवं संस्कृति की त्रिवेणी लोगों में चेतना का बीज बो रही है।

श्री जैन सिद्धान्त भवन में दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, अर्धवार्षिक शोध पत्र-पत्रिकाएँ देश-विदेश से जैन सिद्धान्त भास्कर के परिवर्तन में मंगवायी जाती हैं। भवन नियमित रूप से पठन-पाठन हेतु सन्ध्या ४ बजे से ७ बजे तक खुला रहता है।

शोध कार्य के क्षेत्र में श्री जैन सिद्धान्त भवन, श्री देवकुमार जैन शोध संस्थान अपनी निःशुल्क सेवा प्रदान कर रहा है। यहाँ की पुष्कल सामग्री (प्रकाशित-अप्रकाशित) ग्रंथ, पत्र-

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पत्रिकाएँ, ताडपत्रीय ग्रन्थ आदि परिणाम में ही नहीं, प्रतिमान की दृष्टि से भी शोधकार्य में अत्यन्त उपयोगी हैं। यहाँ प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी आदि विविध भाषाओं का दुर्लभ साहित्य प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। वर्तमान में प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० राजाराम जैन के निर्देशन में ८ शोधार्थी शोध कार्य कर रहे हैं।

श्री जैन सिद्धान्त भवन के तत्वावधान में "श्री निर्मलकुमार, चक्रेश्वरकुमार जैन कला दीर्घा" की प्रदर्शनी श्री शान्तिनाथ जैन मन्दिर तथा भवन के हॉल में प्रदर्शित है। इसमें प्राचीन एवं आधुनिक चित्रकारों द्वारा निर्मित चित्रों के अतिरिक्त प्राचीन सिक्के, सुप्रसिद्ध विद्वानों के पत्रों, माइक्रोफिल्म एवं अन्य विभिन्न सामग्रियों का अनुपम संग्रह है। जिसे देखने हजारों की संख्या में दर्शनार्थी आते हैं। इस वर्ष लगभग एक हजार दर्शनार्थियों ने इसे देखा और इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। इसकी एक शाखा राजगृह, सरस्वती भवन में भी है।

श्री जैन सिद्धान्त भवन ग्रन्थागार द्वारा इस वर्ष पाठकों को पठन-पाठन हेतु ८८ पुस्तकें निर्गत की गईं जिनमें दो हस्तलिखित ग्रन्थ ८२ हिन्दी की छपी पुस्तकें तथा ४ अंग्रेजी की पुस्तकें हैं।

अन्त में मैं भवन की प्रबन्धकारिणी के सभी सदस्यों, पदाधिकारियों एवं कार्यकर्त्ताओं के प्रति अपना अनुग्रह प्रगट करता हूँ जिनके बहुमूल्य सहयोग से जिनवाणी की सेवा निरन्तर हो रही है। आज इस अवसर पर उपस्थित सभी माताओं, बच्चों एवं भाई-बन्धुओं के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूँ जिनकी उपस्थिति से यह कार्यक्रम सानन्द सम्पन्न हो रहा है। हमें पूर्ण विश्वास है कि आपका सहयोग भविष्य में भी इसी प्रकार प्राप्त होता रहेगा।

श्रुत पंचमी-दिवस
५-८-९२

अजयकुमार जैन
मानद् मंत्री

●

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पुरस्कार-सम्मान प्राप्ति के उपलक्ष्य में

—डॉ॰ राजाराम जैन

आज आपके गंगा-कावेरी जैसे पवित्र निश्छल स्नेह को पाकर मैं अत्यन्त भावविभोर हो उठा हूँ। महामहिम पूज्य भट्टारकों, कर्नाटक प्रदेश के कर्णधारों, दिग-दिगन्त से पधारे हुए श्रेण्य-विद्वानों एवं साहित्यरसिक श्रावक-श्राविकाओं के सान्निध्य में आपके इस मंच पर उपस्थित होकर मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूँ, जैसे मैं महान् तीर्थों की एक साथ वन्दना कर अपने आत्मगुणों का विकास कर रहा होऊँ।

क्या कारण है कि आपने एक दूरदेशवासी, हिन्दी-भाषी तथा सर्वथा अपरिचित मुझ जैसे एक कोने-अँतरे में छिपे हुए सामान्य व्यक्ति को खोज निकाला और प्राकृत ज्ञान-भारती एजुकेशन ट्रष्ट के सर्वप्रथम शिखर-सम्मान से उसे सम्मानित करने का सर्वसम्मत निर्णय ले लिया ?

मेरी दृष्टि से, इसका एक प्रमुख कारण मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक ही है। इसके लिए बिहार तथा कर्नाटक के प्राच्यकालीन सम्बन्धों का स्मरण करना होगा। आज से लगभग २३६० वर्ष पूर्व की उस घटना की ओर मेरी दृष्टि जाती है, जब मगध में १२ वर्षों का लगातार अनावृष्टि के कारण भीषण दुर्भिक्ष पड़ा था, जिससे श्रमण-चर्या के छिन्न-भिन्न होने का महान् खतरा उत्पन्न हो गया था। सारा उत्तर भारत उसकी चपेट में आता जा रहा था। सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। उस स्थिति में आचार्य भद्रबाहु अपने १२००० साधुओं के संघ के साथ दक्षिण भारत पधारे थे। उनका जिस कटवप्र नामक स्थान पर चतुर्मास हुआ था, आगे चलकर वही स्थल महान् तीर्थभूमि भी बन गया जो आज श्रवणबेलगोला के नाम से जगद्विख्यात है।

इस प्रकार मगध का कर्नाटक के साथ सहस्राब्दियों से पुराना मधुर सम्बन्ध चला आ रहा है। भले ही, उनका पारस्परिक भाषा-भेद रहा हो, किन्तु मन-भेद कभी नहीं रहा। कर्नाटक की इस पुण्य भूमि पर एक हिन्दी भाषी मगधवासी को प्राकृत ज्ञानभारती द्वारा सर्वप्रथम सम्मानित किया जाना, वस्तुतः उन्हीं प्राच्यकालीन मधुर सम्बन्धों की एक मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है। इस कारण यह सम्मान मैं केवल अपना ही सम्मान नहीं मानता, बल्कि इसे मैं, मगध अथवा पूरे बिहार का सम्मान मानता हूँ।

हम लोगों ने सदा से ही कर्नाटक को जैन तीर्थ जैसा पवित्र माना है। उत्तर भारत ने यदि तीर्थङ्करों एवं उनके गणधरों को जन्म दिया है तो विषम परिस्थितियों में दक्षिण भारत ने उनकी सर्वोदयी-वाणी को संरक्षण दिया है। जितने भी आद्य जैनाचार्य लेखक एवं कवि हुए हैं, वे प्रायः सभी दक्षिण वासी थे। आचार्य कुन्दकुन्द, पुष्पदन्त-भूतबलि, समन्तभद्र, वट्टकेर, स्वामीकार्त्तिकेय, जिनसेन, अभिमानमेरु पुष्पदन्त प्रभृति, जो कि श्रमण संस्कृति एवं साहित्य के आद्य उद्गाता हैं, सभी तो दक्षिण के थे।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कन्नड़ भाषा के आदिकालीन साहित्य का खाता खोलने वाले लेखक भी जैन ही थे, जिन्होंने साहित्य के विविध पक्षों पर उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थ लिखे। ऐसे लेखकों की सूची बहुत ही लम्बी है, जिनमें महामति, आदिपम्प, पोन्न, रन्न, पम्प, कर्णपार्य, अग्गल, आचण्ण, नयसेन, रत्नाकर आदि कवि प्रातः स्मरणीय हैं।

कला के क्षेत्र में अहिनेमि जैसे शिल्पकार का नाम किसके मन को पवित्र नहीं करेगा? उसकी महान् साधना की अनेक किंवदन्तियाँ यहाँ के जन मानस की कण्ठहार बनी हुई है। ५७ फीट ऊँची अप्रतिम सौन्दर्य समन्वित कलापूर्ण वन्दनीय मूर्त्ति का निर्माण कर उसने विश्व को भी चमत्कृत कर दिया है।

श्रवणबेलगोल एवं उसके आसपास के इलाके के विस्तृत जैन शिलालेख यदि उपलब्ध न हुए होते तो गंग, चालुक्य राष्ट्रकूट, एवं होयसल वंशी राजाओं तथा उनके समय का महान् ऐतिहासिक अध्याय अन्धकाराच्छन्न ही रह जाता।

महान् श्रमणोपासक वीर सेनापति चामुण्डराय का जीवन चरित इस भ्रम को दूर कर देता है कि जैनियों की अहिंसा ने देश को कायर बना दिया है। वे जब रणभूमि में उतरते थे तो उनकी बिजली के समान कौंधने वाली तेज तलवार शत्रुओं के छक्के छुड़ा देती थी। किन्तु आचारवान् ऐसे थे कि रणक्षेत्र में भी उनकी सामायिक-वन्दन का क्रम टूटता न था। वे शस्त्र एवं शास्त्र दोनों के धनी थे। उनका "आचारसार" नामक ग्रन्थ आचारशास्त्र का तथा त्रिषष्ठिशलाका महापुरुष चरित पुराणेतिहास का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है।

अभिमानमेरु पुष्पदन्त ने लिखा है युद्ध क्षेत्र में आयुधास्त्रों को ढोते-ढोते महामात्य भरत के कन्धे छिल गए थे। वे लहूलुहान रहते थे। फिर भी राष्ट्र की रक्षा का उनका दृढ़-संकल्प कभी भी ढीला नहीं पड़ा। उन्होंने यह भी लिखा है कि महामात्य भरत एवं नन्न का राजमहल साहित्य एवं संगीत का प्रधान केन्द्र बना हुआ है। वहाँ पर साहित्यकार साहित्य का लेखन करते रहते हैं और संगीतकार संगीत के आयोजन करते रहते हैं। उन्हें लक्ष्मी, सरस्वती एवं धवलयश का समान रूप से वरदान मिला था।

कर्नाटक की एक घटना मैं कभी भूल नहीं पाता। बृहत्कथाकोषकार हरिषेण तथा महाकवि रइधू ने उसका अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। वह घटना कटवप्र की है। आचार्य भद्रबाहु एक गुफा में बहुत ही अस्वस्थ थे। मगध सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) जो कि उनका नवदीक्षित प्रबुद्ध शिष्य था, उसे जंगली इलाका होने के कारण कई दिनों तक आहार नहीं मिल सका था। इस कारण भद्रबाहु को उसकी चिन्ता हो जाती थी।

चन्द्रगुप्त महान् साधक था, परीषह जयी भी। कई दिनों से आहार न मिलने के कारण देवताओं को भी उसकी बड़ी चिन्ता हो गई। अतः उन्होंने एक कृत्रिम नगर की रचना की और तीन दिनों तक नियम-विरुद्ध चौके की व्यवस्था कर पहले तो उसके संयम एवं धैर्य की कड़ी परीक्षा की। जब चन्द्रगुप्त ने आहार स्वीकार नियम-विरुद्ध नहीं किया, तब चौथे दिन उसे निर्दोष आहार विधिवत् मिल गया। मुझे जानकारी नहीं है कि कन्नड़ कवियों ने उस मार्मिक घटना की कहीं चर्चा की है अथवा नहीं? यह भी कहना कठिन है कि यह घटना

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

यथार्थ है, या पौराणिक ? फिर भी वह मन्त्रमुग्धकारी अवश्य है तथा नास्तिकों के मन में भी आस्तिकता का भाव जगा देने के लिए सक्षम है।

इस समय मेरे मन में एक साथ अनेक विचार उदित हो रहे हैं, उन्हें व्यक्तकर पाने में मैं प्रसन्नता का अनुभव करता किन्तु समयाभाव के कारण अपने लोभ का संवरण करना पड़ रहा है।

मैं प्राकृत ज्ञानभारती एजुकेशन ट्रष्ट के सभी पदाधिकारियों के प्रति अपना विनम्र आभार व्यक्त करता हूँ कि जिन्होंने मुझे अपने पुरस्कार-सम्मान के योग्य समझकर आमंत्रित किया तथा स्नेह की वर्षा कर मुझे आगे भी साहित्य-सेवा हेतु प्रेरितकर मेरे उत्साहका वर्धन किया है। आदरणीय प्रो० डॉ० हम्पा नागराजैय्या जी से मेरा नया-नया पत्र-सम्बन्ध ही हुआ है, फिर भी, उनके स्नेह-प्लावित व्यवहार से ऐसा प्रतीत होने लगा है, जैसे हम लोग दीर्घकाल से ही सुपरचित घनिष्ठ मित्र रहे हों। उनके स्नेह के लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

प्रशममूर्त्ति परमपूज्य भट्टारक जी के विषय में तो कहूँ ही क्या ? वे सर्वोदय संस्कृति एवं प्राकृत-साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए अत्यधिक चिन्तित हैं। उनकी यह चिन्ता निश्चय ही प्राकृत-भाषा एवं साहित्य के लिए कल्पवृक्ष बन कर उभरेगी, ऐसा मेरा अडिग विश्वास है। उन्हें मैं अपने सादर प्रणाम निवेदित करता हूँ।

मेरे मित्र प्रो० डॉ० प्रेमसुमन जी के अथक परिश्रम, संयोजन एवं क्रियाशीलता ने मुझे आश्चर्य चकित किया है। प्राकृत एवं जैन-विद्याजगत के वे नवोदित नक्षत्र हैं। उनकी यह क्षमताशक्ति निरन्तर वर्धनशील रहे, यही मेरी उनके प्रति मंगल कामना है।

कर्नाटक प्रान्त के अन्य साहित्यकार, साहित्यरसिक, एवं यहाँ के कर्णधार सभी ने उपस्थित होकर मुझे सुना और मेरा उत्साह बढ़ाया, इसके लिए मैं सभी के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्राकृत ज्ञानभारती एजुकेशन ट्रष्ट ने प्राकृत एवं जैनविद्या की अभिवृद्धि के लिए जो दृढ़ संकल्प लिया है, उसमें उसे पूर्ण सफलता प्राप्त होगी। उसके कार्यों में मुझसे भी जो कुछ बन सकेगा, अपना सहयोग देता रहूँगा।

अन्त में मैं इसी भूमि के महान् स्वाभिमानी एवं ओजस्वी महाकवि रत्नाकर वर्णी के कन्नड़ पद्यवाक्य से अपना आभार-भाषण समाप्त करता हूँ—

नडेदें चित्तके वंदबोलनुडिदे नां वायगिच्छे वंदिते से–
गेडेदें दुःख समुद्रद लपडेनंध कण्गलं पेत्तबोल ॥

अर्थात् जैसा मन में आया, वैसा मैंने निवेदन कर दिया। कष्ट के समुद्र में अब धैर्य, बँध गया है। जिस प्रकार अन्धे को आँख मिलती है, मैंने भी आपको उसी रूप में प्राप्त किया है।

महाजन टोली नं० २,
आरा (बिहार)

●

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

—उपाध्याय श्री कनकनन्दी जी महाराज

मैंने अपने छात्र जीवन में एक कथा पढ़ी थी। वनवास के समय जब रावण सीता का हरण करके ले गया, तो राम, हनुमान, सुग्रीव आदि ने लंका में पहुँचने के उपाय खोजे। वानरों ने निर्णय कर लिया कि लंका में पहुँचने के लिए बीच में जो समुद्र है उस पर सेतु बन्ध बाँधा जाये। सब सेतु बन्ध बाँध रहे थे, बड़े-बड़े पत्थर उठा कर ला रहे थे। राम ने देखा कि छोटी सी एक गिलहरी समुद्र में जाकर डूबती है, बाहर निकलती है, फिर पास की मिट्टी में लोटती है और जो मिट्टी उसके शरीर पर लग जाती है उसे उस सेतु पर छिड़क देती है। बार-बार वह ऐसा कर रही थी। जब रामचन्द्र जी ने देखा कि यह रोज ऐसा कर रही है तो उन्होंने सोचा यह क्या नाटक कर रही है। उसे अपने पास बुलाया और बड़े प्यार से पूछा—तुम रोज-रोज यह क्यों करती हो। यहाँ पर बड़े से बड़े योद्धा काम कर रहे हैं, पत्थर ला रहे हैं, अगर तुम्हारे ऊपर कोई पत्थर गिर गया तो तुम चकनाचूर हो जाओगी। तब गिलहरी ने कहा—मेरी शक्ति तो नहीं है, परन्तु मेरी तुम्हारे प्रति भक्ति बहुत है, आपके प्रति पूर्ण समर्पण-भाव है और सत्य का पक्ष भी है। मैं हनुमान, सुग्रीव आदि की तरह पहाड़ तो नहीं ला सकती, फिर भी किस प्रकार आपके काम में सहायता करूँ। बहुत सोच-विचार कर मैंने सोचा कि मेरा रोयेंदार शरीर है, इस पर पानी डालकर मिट्टी में लोटकर आपके सेतु में मिट्टी छिड़ककर कुछ तो सहायता कर ही सकती हूँ। इस शरीर से आपका उपकार हो जायेगा। इसीलिए मैं रोजाना पानी में स्नान करती हूँ, जिससे मेरा शरीर गीला हो जाता है, फिर मैं मिट्टी में उलट-पुलट करके मिट्टी से लिप्त हो जाती हूँ, फिर सेतु पर आकर अपने शरीर की मिट्टी उस पर झाड़ देती हूँ। उस छोटी सी गिलहरी की बात सुनकर राम, हनुमान आदि सभी गद्गद् हो गये। सुग्रीव, हनुमान आदि को उसकी भक्ति के सामने अपनी भक्ति बहुत कम मालूम हुई। इसको ही कहते हैं "परस्परोपग्रहो जीवानाम्"।

जितनी आप में शक्ति है, जितने आपके पास साधन हैं, जितनी आपमें भक्ति है, उसके अनुकूल दूसरों का उपकार करना चाहिए। हमारे यहाँ एक शास्त्र है। उसको लोग कहते हैं कि यह मुसलमानों का कुरान है, ईसाइयों की बाइबिल है, हिन्दुओं की गीता है। परन्तु उसकी तुलना इनसे करना ठीक नहीं। क्या सूर्य की तुलना जुगनू के साथ की जा सकती है। उस ग्रन्थ का नाम है तत्वार्थ सूत्र। उसके पाँचवें अध्याय का यह एक सूत्र है "परस्परोपग्रहो जीवानाम्"। यदि प्राणी को, समाज को, देश को, राष्ट्र को जीवित रहना है तो एक दूसरे का परस्पर में उपकार करो, तभी तुम जीवित रह सकते हो, वरना मिट जाओगे, नष्ट हो जाओगे।

अब से अरबों करोडों वर्ष पहले बहुत दीर्घ काय सरीसर्प जातीय जीव हुआ करते थे,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

हाथी से भी बड़े होते थे, यहाँ तक कि हाथी को भी निगल सकते थे। बड़े-बड़े जीवों को क्षण में ॐ स्वाहा कर दिया करते थे। आज भूमि पर कुछ कंकाल ही अवशेष हैं। यह एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है—'जो झगड़ा करता है वह मिट जाता है।' वे शक्तिशाली थे, परस्पर झगड़ा करते थे, एक दूसरे को मारते थे, इसीलिए वे मिट गये परन्तु अब छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े भी 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' के सिद्धान्त को मान रहे हैं। इसीलिए वह एक दूसरे का उपकार कर रहे हैं। इसीलिए परस्पर उपकार करना मनुष्य का स्वभाव है यदि नहीं करोगे तो नष्ट हो जाओगे।

एक बार नेपोलियन घोड़े पर चढ़े जा रहे थे। कुछ लोग एक बहुत बड़ा खम्भा उठाने का प्रयत्न कर रहे थे। एक व्यक्ति वहाँ पर खड़ा देख रहा था, उनकी सहायता नहीं कर रहा था। नेपोलियन ने सोचा कि खम्भा उठाने में एक व्यक्ति की और सहायता चाहिए। यह जो व्यक्ति खड़ा है यदि यह भी इनके साथ लग जाये, तो खम्भा उठ जायेगा। नेपोलियन ने घोड़ा रोका और उस व्यक्ति से कहा—आप यूँ ही क्यों खड़े हैं। आप इन लोगों की सहायता कीजिए, खम्भा उठ जायेगा। उस व्यक्ति ने कहा—मैं तो ठेकेदार हूँ, यह मेरा काम नहीं। तब नेपोलियन घोड़े से उतरा और लग गया उन लोगों की सहायता करने, बस खम्भा उठ गया। उस व्यक्ति ने पूछा—तुम कौन हो? मैं नेपोलियन हूँ। ऐसा सुनकर वह व्यक्ति बहुत शर्मिन्दा और भयभीत हुआ, उसका रक्त पानी हो गया। उसने सोचा अब तो नेपोलियन मुझे प्राणदण्ड अवश्य ही देगा। वह नेपोलियन के सामने गिड़गिड़ाया, हाथ जोड़े और प्रार्थना की मुझे क्षमा करो। तब नेपोलियन ने कहा—इसमें क्षमा की क्या बात है। एक बात याद रखो, कभी भी दूसरों के उपकार के लिए पीछे मत हटो।

मैंने एक पुस्तक राजनीति पर लिखी है। उसमें राजा की परिभाषा लिखी है। मैं इन आइन्स्टिन, न्यूटन, गालिलियों आदि किसी के सिद्धान्तों को आँख मीचकर स्वीकार नहीं करता मैं अपने सिद्धान्त, अपनी परिभाषायें स्वयं बनाता हूँ, तो मैंने लिखा है कि राजा उसे कहते हैं जो समाज की, देश की, निस्वार्थ भाव से सेवा करता है वही राजा है, वही नेता है, उसी को क्षत्रिय कहते हैं। जो कष्टों से प्रजा की रक्षा करे उसको क्षत्रिय कहते हैं। मराठी में नेता को पुढ़ारि कहते हैं। पुढ़ारि का अर्थ है जो सबसे बड़ा शत्रु हो, जो शोषण करता हो। परन्तु नेता वास्तव में वही हो सकता है, राजा वही हो सकता है जो सबकी निस्वार्थ भाव से सेवा करता हो।

भारतवर्ष को स्वतन्त्र हुए ४२ वर्ष हो गये। यथार्थ में प्रधानमन्त्री एक ही हुआ। वह यथार्थ नागरिक था, यथार्थ नेता था। कम समय रहा, शरीर से छोटा भी था परन्तु उसने देश की वह सेवा की जो किसी ने नहीं की। जो नेहरू जी १८ वर्ष में भी नहीं कर पाये, वह उस नाटे व्यक्ति ने १८ महीनें में करके दिखा दिया। वे थे श्री लालबहादुर शास्त्री जी। मैं उनको सबसे योग्य प्रधानमन्त्री मानता हूँ। प्रधानमन्त्री बनने के पहले वे इलाहाबाद में सामाजिक सेवा खूब करते थे, परन्तु वहाँ के Newspapers में वह अपना नाम तक नहीं देते थे। जैसे विनोबा भावे सेवा करते परन्तु कहीं नाम तक नहीं, कहीं फोटो तक नहीं देते थे। गाँधी जी की नीतियाँ बहुत-सी तो ठीक थी, परन्तु उनकी बहुत-सी नीतियाँ सड़ी-गली थीं। जिसका

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

परिणाम भारत को भुगतना पड़ रहा है। सरदार पटेल, शास्त्री जी, बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय आदि वास्तव में, यथार्थ में नेता थे। एक बार शास्त्री जी के दोस्तों ने कहा कि आप अपना नाम अखबारों में क्यों नहीं देते, तो उन्होंने कहा—लाला लाजपत राय मुझे बोलते थे कि जैसे ताजमहल के ऊपर भी पत्थर लगे थे और नीचे भी पत्थर लगे थे। ऊपर के पत्थर की तो सब प्रशंसा करते हैं, परन्तु नीचे के पत्थर को नींव के पत्थर को कोई देखता तक नहीं, कोई उसकी प्रशंसा नहीं करता। लेकिन अगर वह नींव का पत्थर न होता तो ताजमहल ढह जाता। इसीलिए मैंने तभी से प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं नींव के पत्थर की तरह समाज की सेवा करूँगा। मुझे कुछ पदवी नहीं चाहिए। आप Building को देखते हैं, उसके दीवार के पत्थरों को भी नहीं देखते हैं बल्कि उसके Colour को देखते हैं, Decoration को देखते हैं, उसकी बहुत प्रशंसा करते हैं परन्तु नींव के पत्थर की तो बात भी नहीं करते। इसी प्रकार घर में, समाज में, देश में, राष्ट्र में कुछ मूल सेवक होते हैं जिनके कारण ही समाज, देश, राष्ट्र प्रगतिशील होते हैं।

विवेकानन्द बोला करते थे कि जिसका नाम लोग जानते हैं, क्या वे ही महापुरुष होते हैं? नहीं, ऐसा नहीं है। ऐसे बहुत से महापुरुष होते हैं जो रात के अंधेरे में समाज की, देश की सेवा करते हैं, इसीलिए हमारे यहाँ 'गुप्तदानं परं कल्याणम्'' कहा है। क्योंकि गुप्तदान देने वाले का उत्कृष्ट भाव रहता है, क्योंकि वहाँ नाम की इच्छा नहीं होती। इसी तरह जैसे नींव का पत्थर दिखाई नहीं देता, परन्तु महत्वपूर्ण होता है, उसी प्रकार जिसका नाम नहीं है उसको कोई नहीं जानता, परन्तु वह समाज का, देश का महत्वपूर्ण अंग है।

इसलिए हमारे यहाँ कहा गया है कि जो सम्यग्दृष्टि होता है उसके अष्ट अंग और अष्ट गुण होते हैं। अष्ट अंगों में ४ अंग तो स्वयं के लिए हैं और ४ अंग समाज के लिए हैं। लोग पूछते हैं कि जैनधर्म तो आत्मा-आत्मा ही कहता है, समाज की या दूसरों की तो यह बात ही नहीं करता। उनसे मैं कहता हूँ—तुम्हें जैनधर्म का ABC मालूम है क्या? जैनधर्म में तो समाजशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि सब ही का वर्णन है। जैनधर्म तो कहता है कि वह धर्मात्मा ही नहीं कहला सकता जिसमें ८ अंग न हो।

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिछा अमूढदिट्ठि य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छलु पहावणा य ते अट्ठ॥

निशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि ये ४ अंग तो विशेष करके आत्मा पर आधारित हैं और उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये विशेषतः समाज के लिए हैं, राष्ट्र के लिए हैं। पहले ४ स्वयं के लिए और बाद के ४ दूसरों के लिए हैं। निशंकित अंग क्या कहता है, उपकार का फल अच्छा या बुरा ऐसी शंका न करना। उपहार, धर्म का फल तो अच्छा ही है। निकांक्षित अंग का अर्थ है धर्म करके फल की इच्छा न करना। इसी को महात्मा गाँधी ने निष्काम कर्मयोग कहा है। गीता में भी कहा है—

कर्मण्येव अधिकारस्तु मा फलेषु कदाचन।

निर्विचिकित्सा बतलाता है कि धर्मात्मा को देखकर घृणा नहीं करना, ईर्ष्या नहीं करना और

Ac. Gunratnasuri MS   Jin Gun Aradhak Trust

अमूढ़दृष्टि अंग कहता है कि मूढ़ता रहित होकर, विचार करके काम करना। पहले सुनो, फिर उसका परीक्षण करो, फिर करो। दूसरों को भिड़ाने के लिए अनेक व्यक्ति रहते हैं। उनकी सुनने के बाद, विचार करने के बाद कोई कार्य करो। उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना ये ४ अंग दूसरों के लिए बतलाये। उपगूहन अंग में बताया है कि यह एक शास्वत नियम है—भूल होगा। भूल सबसे हो सकती है। यहाँ तक कि तीर्थंकर भी। जब तक वह परमात्मा नहीं बनते, उनसे भी भूल हो सकती है। **Man is err या To err is human.** भूल होना स्वाभाविक है। इसीलिए जब किसी से भूल हो जाये तो दूसरों के सामने उसे प्रगट न करो। देवगति में लोभ, नरक में क्रोध, तिर्यन्च में माया व मनुष्य गति में मान की अधिकता पायी जाती है। मान ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धन है। यदि मनुष्य में मान नहीं रहा तो चलता-फिरता सड़ा शव है।

रहिमन पानी राखिये, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरे, मोती मानस चून।।

किसी की निन्दा करने से उसके स्वाभिमान का घात होता है, दूसरे की निन्दा करने से उसका प्राणघात होता है। इसलिए उपगूहन अंग को बताया। कहा भी है—

अधमा धनच्छिन्ति, धनं मानं च मध्यमा।
महांतो मानमिच्छन्ति, मानो हि महतां धनम्।।

आपको जिनेन्द्र भक्त सेठ की कथा मालूम होगी। उस सेठ का चैत्यालय था। भगवान के ऊपर एक छत्र लगा था जिसमें एक बहुमूल्य मणि थी। सेठ का प्रबन्ध बहुत अच्छा था इसलिए कोई उसमें चोरी नहीं कर सकता था। एक दिन चोरों का सरदार चोरों से बोला-कौन चुराकर लायेगा उस मणि को। सूर्यप्रभ नाम का चोर तैयार हो गया। नकली क्षुल्लक बना। उपवास करता-करता प्रसिद्ध हो गया। सेठ ने उसे अपने चैत्यालय में ठहरने की प्रार्थना की। वह वहाँ रहने लगा। एक दिन सेठ को बाहर जाना पड़ा—नगर से बाहर Camp में ठहरा। चैत्यालय की चौकसी क्षुल्लक के सुपुर्द कर दी। उधर उस क्षुल्लक ने क्या किया? रात को छत्र चुराया, कपड़े में लपेटा और चल दिया। पुलिस ने देख लिया, पीछे-पीछे भागे। भागते-भागते वहीं पहुँच गये, जहाँ Camp में जिनेन्द्र भक्त सेठ ठहरे थे। सिपाहियों ने कहा कि यह छत्र चुराकर भागा है। सेठ ने सोचा अगर मैं कुछ कहता हूँ तो जैनधर्म का अपमान होगा, तो सेठ ने सिपाहियों से कहा—ये चोर कहाँ, भागों यहाँ से, छत्र तो मैंने ही इनसे मँगवाया था। और बाद में उन क्षुल्लक जी के कान पकड़े और कहा—मुख में राम बगल में छुरी। तुमने बहुत बुरा किया। इससे तो जैनधर्म की बदनामी होगी। सुनकर उसमें परिवर्तन हो गया और वह सच्चा क्षुल्लक बन गया। सेठ ने ऐसा क्यों किया? यदि वह कह देता कि यह चोर है तो सब लोग कहते कि जब जैनियों का क्षुल्लक भी चोरी करता है, जैनी तो चोर होते हैं। इस तरह जैनधर्म की बहुत निन्दा होती। लेकिन दोष का अनुमोदन भी नहीं करना चाहिए। जो अन्याय का पक्ष लेना है वह भी अन्यायी होता है। उसको एकान्त में ले जाकर समझाना चाहिए। सम्यग्दृष्टि में ८ गुण भी होते हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

स्वयं की निन्दा करनी चाहिए। अपनी निन्दा करने से कर्मों की निर्जरा होती है, उच्च गोत्र का बंध होता है और दूसरों की निन्दा करने से पाप बन्ध होता है, नीच गोत्र का बन्ध होता है। सम्यग्दृष्टि जानता है मेरा स्वरूप तो भगवान जैसा है अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शनी, परन्तु कर्मों के कारण संसार में भ्रमण कर रहा हूँ। इसीलिए वह स्वयं की निन्दा करता है। उसमें गर्हा, भक्ति, संवेग, निर्वेग, वात्सल्य, प्रभावना आदि सब गुण होते हैं। आजकल हममें वात्सल्य गुण नहीं है इसलिए हमारे धर्म की प्रभावना भी नहीं है।

मुसलमान व ईसाई अर्वाचीन धर्म हैं, कोई ११००, १२००, १४०० वर्ष पुराने हैं, परन्तु दुनियाँ में इन धर्मों के मानने वाले बहुत अधिक हैं और जैनधर्म अनादि काल का है, फिर भी जैनियों की संख्या बहुत कम है। मैंने पहले भी कहा था कि जो मूल्यवान वस्तु होती है उसकी उपलब्धि कम होती है, परन्तु मुसलमान व ईसाई धर्मों के प्रचार के मुख्य कारण भी हैं। मुसलमानों में भाई चारा **Brothorhood** बहुत अधिक है और ईसाईयों में सेवा भाव कमाल का है। **Serve to humanity is sarve to God** ऐसा वह मानते हैं। मानव की सेवा ही भगवान की सेवा है, यही उनका नारा है, दूसरे लोग उनकी सेवा से प्रभावित होकर उनके धर्म को अंगीकार कर लेते हैं। जैनियों में वर्तमान में सेवा धर्म नहीं, भाईचारा नहीं, इसीलिए वह कटते-छटते जा रहे हैं। हमारे यहाँ वैयावृत्य नहीं, दूसरे की सेवा का भाव नहीं। तीर्थंकर प्रकृति का बंध भी वैयावृत्ति से होता है। वह सोचते हैं कि मैं तो मोक्ष जाऊँगा ही, जितने भी जीव हैं उन सबको भी मोक्ष में ले जाऊँ। इस प्रकार की वैयावृत्ति की भावना से तीर्थंथर बनते हैं। जिसमें वैयावृत्ति है, वही तीन लोक का नेता, तीन लोक का स्वामी बनता है। जिसमें वैयावृत्ति नहीं वह तीर्थंकर नहीं बन सकता, भले ही वह केवली बन सकता है, भगवान बन सकता है।

आदिपुराण में जिनसेनाचार्य ने तप और ध्यान का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। तीर्थंकर सबसे सेवित क्यों होता है क्योंकि उन्होंने सबकी सेवा की, सबकी वैयावृत्ति की। उनके इतनी विभूति क्यों होती है क्योंकि उन्होंने सब विभूतियों का त्याग किया। जो रोज स्वाध्याय करता है, ध्यान करता है और एक वह जो वैयावृत्ति करता है इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है? श्रेष्ठ है, वैयावृत्ति करने वाला, क्योंकि वैयावृत्ति को अन्तरंग तप बताया है। वैयावृत्ति करने वाला दूसरों को जीत लेता है, दूसरे उसके हो जाते हैं। वैयावृत्ति को हमारे यहाँ दान भी कहा है। चारों प्रकार का दान वैयावृत्ति है, ऐसा समन्तभद्राचार्य ने कहा है। जो सेवाभावी नहीं, वह दान नहीं कर सकता। कबीर ने भी कहा है—दान बड़ो चोज है। रहीम कहते हैं—

"रहिमन वे नर मर चुके, जो कछु माँगन जाहिं।
उनतें पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं॥"

जो तुम्हारे पास सहायता के लिए आता है, याचना करता है वह तो मरा हुआ है ही, यदि आप उसकी सहायता नहीं करते तो उससे पहले आप मरे हुए हैं। आप जीवित नहीं हो, चलते-फिरते सड़े शव हो। जब आप दीन-हीन की भी सहायता नहीं करते तो आप उनसे भी अधिक

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

दीन हीन हो। जो दान करता है वह ऊपर उठता है, जैसे बादल जो मिलता है वह दे देता है इसीलिए बादल ऊपर रहता है लेकिन समुद्र जो नहीं देता वह नीचे ही रहता है। समुद्र पानी का दान नहीं करता, इसीलिए उसका पानी खारा होता है, बादल देता है इसीलिए जो पानी वह वर्षाता है, मीठा होता है, तो यह है वात्सल्य सेवा भाव। यदि वात्सल्य नहीं तो सेवा भाव नहीं हो सकता। रतिदेव का उदाहरण आपके सामने है। उसके राज्य में दुष्काल पड़ा। उसे अपनी स्त्री, लड़के, लड़की के साथ राज्य छोड़ना पड़ा। एक दिन रोटी खाते समय एक भिखारी आ गया, उसने रोटी दे दी, फिर चाण्डाल आया, उसे भी रोटी दी, फिर कुत्ते को भी रोटी दी और आप चारों भूखे रहे। रतिदेव का मत है—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् पराम् अर्ष्टाद्धियुक्तामपुनर्भव वा।
अर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजाम्, अन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ।।

हे भगवन् ! मेरे को धन वैभव नहीं चाहिए, मेरे को सुख नहीं चाहिए, मेरे को स्वर्ग भी नहीं चाहिए और मेरे को मोक्ष भी नहीं चाहिए, मेरे को क्या चाहिए ? हे भगवन् ! जो विश्व में दुःखी प्राणी हैं उनके अन्तःकरण में मुझे बैठा दो। ताकि उनके दुःखों को मैं झेलता रहूँ और वे सुखी हो जायें। ऐसे जो व्यक्ति होते हैं, वही दूसरों के दुःख दूर कर सकते हैं, ऐसे व्यक्तियों के ही कारण देश में शान्ति होती है। एक बार भारत में हुआन-सांग आया था—उसने लिखा है कि भारत में अतिथि सत्कार बहुत ज्यादा है। वह अतिथि का आदर-सत्कार करते हैं। उपनिषद् में भी लिखा है—

"मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, अतिथि देवो भव ।।"

माता भगवान है, पिता भगवान है, अतिथि भगवान है। चाहें शत्रु भी द्वार पर आ जाये वह भी भगवान है, यही भारतीय परम्परा रही है। मैंने एक बार सोचा जैनधर्म में कहीं Ambulance का वर्णन नहीं दिखायी देता। फिर पुराणों में खूब खोज की। एक दिन पढ़ा, जब राम, रावण युद्ध चल रहा था, तो कुछ ऐसे व्यक्ति थे जो दोनों पक्षों के घायलों की सेवा करते थे। जो अपने Camp में आ जाता था, चाहे वह उनका कट्टर शत्रु भी हो, उसका स्वागत करते थे, जो माँगता था उसे देते थे। यही तो Ambulance थी। यही तो भारतीय संस्कृति थी, यही तो है "परस्परोपग्रहो जीवानाम्"। **Florence Nightangle (Lady with the lamp)** जिस समय **Hospital** में **Lamp** लेकर आती तो उसके पैर की आहट मात्र सुनकर ही रोगियों का आधा रोग दूर हो जाता था। यह बात cent-per-cent सत्य है। वह श्रीमन्त लड़की थी। जब उसने world war में घायलों को देखा, तब उसके मन में करुणा उत्पन्न हुई तो उसने विचार किया, मुझे उनकी सेवा करनी चाहिए। इसी भावना को पूरा करने के लिए उसने आजीवन ब्रह्मचर्य ले लिया। निस्वार्थ भाव से सेवा करती थी। उसके लैम्प को देखकर ही रोगी में चेतना आ जाती थी, जैसे किसी ने जादूगरनी की लकड़ी फेर दी हो। आप इसे गप्पाष्टक कह सकते हैं, परन्तु क्या जो दूसरे धर्मों में हैं वह सब गप्पाष्टक ही है ? नहीं। जैनधर्म में भी तो विशल्या का वर्णन आया है। उसके शरीर से स्पर्श की हुई वायु से रोगियों के रोग दूर हो

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जाते थे। उसके स्नान किये हुए जल से भंगदर और कुष्ट जैसे रोग ठीक हो जाते थे। सत्य कहीं भी हो, आपको उसे स्वीकार करना चाहिए। बात क्या है ? अन्तरंग में सेवा की भावना है, उससे आसपास के परमाणु, वायु, वातावरण शुद्ध हो जाते हैं, जिससे रोग दूर हो जाते हैं। भगवान जहाँ विहार करते हैं वहाँ भी तो चारों ओर सुभिक्ष हो जाता था।

"अहिंसा प्रतिष्ठायाम् ततसन्निधौ बैरी त्यागः।"

अहिंसा शब्द स्वयं में Negative form है इसका Pgsitive form है सेवा, प्रेम, दया love। दया के कारण परमाणु शुद्ध हो जाते हैं इसीलिए सेवा सबसे बड़ा धर्म है। इसी को वैयावृत्ति कहते हैं। वैयावृत्ति यानि दूसरों की सेवा करना। अभी कुछ दिन पहले मुनि कुमार विद्यानन्दी मेरे सिर में चमेली का तेल लगा रहे थे। तब उन्होंने कहा कि देखो मेरे हाथ में चमेली के तेल की सुगन्ध आ गयी है, तो जो दूसरों की सेवा करता है उसे उसका अवश्य फल मिलता है।

एक दिन अमेरिका के President Abrahim Lincaln Assembly में जा रहे थे। रास्ते में एक सुअर कीचड़ में पड़ा तड़प रहा था। उन्होंने गाड़ी रुकवाई, कीचड़ में घुसे और सुअर को निकाल लाये। उनके कपड़ों पर भी कीचड़ लग गया, वह गन्दे हो गये। Assembly की मीटिंग का समय हो गया था इसलिए वह बिना कपड़े बदले ही Assembly Hall में पहुँच गये। वहाँ पर लोगों ने पूछा तो आपने कहा कि जब मैं आ रहा था तो मुझे उस सुअर को देखकर बड़ी वेदना हुई। उसे मैं सहन नहीं कर सका, इसलिये कीचड़ से उस सुअर को निकाला, तभी मेरी वेदना दूर हुई। गन्दे कपड़ों में इसलिये आ गया कि देर हो रही थी। सेवा से आन्तरिक शान्ति मिलती है।

बच्चे चंचल होते हैं जैसे बन्दर चंचल होते हैं। मैं बुड्ढे-बुड्ढी से आहार नहीं लेता, बच्चों से लेता हूँ। बच्चे जो इतने चंचल होते हैं, १ मिनट भी चैन से नहीं बैठ सकते। २-२ घण्टे आहार देने में खड़े रहते हैं। मैंने मनोविज्ञान की दृष्टि से इसका कारण खोजा तो पाया कि उस समय उनमें एक शुभ भावना रहती है जिससे उन्हें energy मिलती है। सिनेमा देखने मेंभी जो आनन्द उन्हें नहीं मिलता, वह आनन्द उन्हें यहाँ मिल जाता है। सेवा करने वाला भी हमारे समान बड़ा हो जाता है। आहार के समय साधु का हाथ नीचे और आपका ऊपर होता है। जब कोई साधु की वैयावृत्ति करता है तो वह उसी पाटे पर बैठ जाता है जिस पर साधु बैठे होते हैं। कहा है—

"लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।
चींटी ले शक्कर चली, हाथी के सिर धूल।।"

जब हमें इधर लाया गया तो बड़ौत वालों ने भी बहुत कोशिश की परन्तु मैंने इन्कार कर दिया—क्योंकि मैंने सुन रखा था कि उत्तर भारत में धर्म-कर्म बिल्कुल नहीं, खान-पान भी ठीक नहीं—आचार-विचार भी गन्दे हैं। वातावरण बिल्कुल विपरीत था, यहाँ दान, सेवा नहीं, मच्छर भी यहाँ बहुत हैं इसीलिए हमने सोचा था कि वहाँ नहीं जाना चाहिए। परन्तु यहाँ आकर हमने देखा लंका में सभी राक्षस नहीं होते, विभीषण भी होते हैं। सब पापी ही नहीं हैं, परन्तु भोले-भाले भी हैं। यहाँ आकर मुझे बहुत खुशी हुई। मैंने कहा है कि

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैसे सुभाष बोस ने कहा था—**You give me blood, I will give you good nation.** इसी प्रकार मैंने कहा—**You give me Co-operation. I give you scientific religion,** मेरी भावना थी कि जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है, सर्वश्रेष्ठ है। यह संकुचित दायरे में क्यों आ गया। मैंने सोचा कि मैं जैनधर्म के विषय में, इसके प्रचार के लिए बहुत कुछ लिखूंगा परन्तु इसके लिए मुझे सहकार चाहिए। एक तिनका हाथी को नहीं बाँध सकता, एक बूंद से घड़ा नहीं भर सकता, एक उँगली से भोजन नहीं किया जा सकता। सहकार चाहिए, तो मुझे यहाँ साधुओं का, माताओं का, प्रोफेसरों का, बच्चियों का खूब सहकार मिला। मेरा सपना साकार हो रहा है, मेरी तबीयत खराब रहती है, शरीर भी कमजोर है, खाने में उतनी Calories भी नहीं लेता, फिर भी प्रोफेसरों का, लेक्चररों का, श्रीमानों का, धीमानों का, बच्चियों का इतना सहयोग मिला है कि मुझे अधिक ऊर्जा मिल रही है। सहकारिता से रक्त बढ़ता जा रहा है। यहाँ पर बहुत उत्साह है। मैं अकेला नहीं कर सकता था। एक-दो महीने बाद आपको पता चल जायेगा क्या काम हुआ। हमारे संघ के इतिहास में, मुजफ्फरनगर के इतिहास में, वह स्वर्ण अक्षरों में ही नहीं रत्न अक्षरों में लिखा जायेगा। यह काम साधुओं के कारण, आप सबके कारण हुआ। आप लोग मुझे कहते हैं—आप **Rest** कीजिए, हम काम करेंगे। मेरी भावना इस **area** के प्रति दुष्ट थी, क्या करना है वहाँ जाकर, ऐसा सोचा करता था, वह धारणा अब गल रही है। मैं बोलने में विश्वास नहीं करता, करने में विश्वास करता हूँ "परस्परोपग्रहो जीवानाम्"। एक दूसरे के उपकार से ही काम होता है। अकेले से काम नहीं होता। भूवलय शास्त्र में कुमुन्देन्दु आचार्य ने लिखा है—उसमें उनके ११०० शिष्यों ने सहयोग किया। षटखण्डागम में धरसेनाचार्य ने उनके शिष्यों को पढ़ाया। षटखण्डागम भूतवली, पुष्पदन्त आचार्य दोनों मिलकर लिखे। धवल, जयधवल वीरसेन स्वामी ने लिखा, जिनसेन स्वामी ने उसे पूरा किया। जिनसेन स्वामी द्वारा रचित उत्तर पुराण, आदिपुराण को गुणभद्राचार्य जो उनके शिष्य थे, ने पूरा किया। सहकार से काम करो नहीं तो सब मटियामेट हो जायेगा। किसी का उपकार नहीं कर सकते, तो अपकार तो ना करो। पानी नहीं पिला सकते, तो विष तो ना पिलाओ, मीठी बात नहीं कह सकते तो कड़वी बात तो न सुनाओ।

सब लोगों को कन्धे से कन्धा मिलाकर आगे बढ़ना है। हमारा जैनधर्म तार्किक है, वैज्ञानिक है। हमारे प्रयास से उनकी **Demand** अधिक बढ़ेगी, परन्तु श्रीमानों, धीमानों का सहकार चाहिए। लोगों ने मेरे से कहा कि जो आप लिख रहे हैं क्या वह प्रकाशित होगा, मैंने कहा कि मैंने तो सम्मेदशिखर पर पार्श्वनाथ के मन्दिर में प्रतिज्ञा की थी कि मैं आजीवन किसी के आगे हाथ नहीं पसारूँगा, न किताब के लिए, न संस्था के लिए, न मन्दिर के लिए, न मूर्ति के लिए। मैं यहाँ किसी को बोलता नहीं फिर भी लोग आ-आकर स्वयं ही कह रहे हैं कि हमारी सेवा ले लो, इसीलिए हमें भी जैनधर्म की सेवा करने का मौका दीजिए। तन से, मन से, धन से हर प्रकार से सेवा करना चाहते हैं।

तो हमें भी गिलहरी के समान दूसरों की सेवा करनी चाहिए, तभी हम कह सकते हैं "परस्परोपग्रहो जीवानाम्"।

संकलन—डॉ० मूलचन्द जैन

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित जीव की अवधारणा

डा० महेन्द्रनाथ सिंह

नवतत्त्वों में सबसे पहला होने के कारण उत्तराध्ययन में जीव का स्पष्ट लक्षण[1] किया गया है। जीव का लक्षण उपयोग है। यह लक्षण संसारस्थ और सिद्ध दोनों प्रकार के जीवों में घटित होता है जिसमें ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग पाया जाता है, वह जीव है। जीव के इसी स्वरूप का कथन करते हुए ग्रंथ में अन्य प्रकार से भी लिखा है कि ज्ञान, दर्शन, सुख, दुःख, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग, ये सब जीव के लक्षण हैं।[2]

उत्तराध्ययन सूत्र में जीव के सामान्य चेतन गुण के अतिरिक्त कुछ अन्य गुण भी बतलाये गये हैं, जैसे—जीव अमूर्त है,[3] अविनाशी है,[4] स्वदेह परिमाण वाला है,[5] कर्त्ता-भोक्ता तथा पूर्ण स्वतन्त्र है,[6] स्वरूपतः ऊर्ध्वगतिशील है[7] आदि।

जीव के दो प्रधान भेद हैं—सिद्ध और संसारी[8]।

सिद्ध जीव—इसको मुक्त आत्मा भी कहा जाता है। कर्म-बन्धन टूटने से जिनका शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है, वे मुक्त आत्माएँ हैं। मुक्त जीव की अवस्था जरा-मरण से रहित, व्याधि से रहित, शरीर से रहित, अत्यन्त दुःखाभाव रूप, निरतिशय सुख रूप, शान्त, क्षेमकर, शिव रूप, धन रूप, वृद्धि-ह्रास से रहित, अविनश्वर, ज्ञानरूप, दर्शनरूप, पुनर्जन्म रहित और एकान्त अधिष्ठान रूप है।[9]

संसारी जीव—संसारी जीव से तात्पर्य उन जीवों से है, जो अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं हुए हैं, कर्मफल भोगने के लिए परतन्त्र हैं तथा शरीर से मुक्त हैं। मुक्त आत्माओं से संसारी आत्मा संख्या की दृष्टि से अनन्तानन्त गुनी अधिक हैं। ग्रन्थ में यद्यपि संसारी जीवों के शरीरों के प्रकारों का वर्णन नहीं मिलता है तथापि कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं।[10]

उत्तराध्ययन सूत्र में संसारी जीवों के एकाधिक प्रकार से विभाजन मिलते हैं। प्रधान रूप से संसारी जीव दो प्रकार के हैं—त्रस और स्थावर[11]। जिनमें गमन करने की क्षमता का अभाव है वे स्थावर हैं और जिनमें चलने की क्षमता है वे त्रस हैं।[12]

स्थावर जीव—इनके तीन भेद हैं—पृथ्वी, जल और वनस्पति।[13] कहीं-कहीं पाँच विभाग भी बताये गये हैं—पृथ्वी, जल, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पति। अग्नि और वायु इन दो को गतिशील होने से अपेक्षापूर्वक त्रस भी कहा गया है।[14] उत्तराध्ययन में बहुत स्थलों पर छः काय के जीवों का उल्लेख किया गया है, जिसमें पाँच स्थावर और एक त्रस का भेद लिया गया है।[15] इससे स्पष्ट है कि एकेन्द्रिय सम्बन्धी स्थावर के पाँच भेद ही उपयुक्त हैं, जो निम्न हैं—

१. पृथ्वीकायिक जीव—जिनका पृथिवी ही शरीर है उन्हें पृथ्वीकायिक जीव कहते हैं। इनके दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर (स्थूल)। सूक्ष्म और बादर के भी दो भेद हैं—

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पर्याप्त और अपर्याप्त।[१६] बादर पर्याप्त के प्रथमतः दो भेद हैं—सुकोमल और कठिन।[१७] पुनः सुकोमल पृथिवी के सात और कठिन पृथिवी के ३६ भेद बताये गये हैं।[१८]

२. **अप्कायिक जीव**—ऐसे जीव जिनका शरीर ही जल है अप्कायिक कहे जाते हैं। ग्रन्थ में इनके चार भेद बताये गये हैं, यथा—सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त।[१९] बादर पर्याप्त जीव के पाँच भेदों का उल्लेख किया गया है।[२०]

३. **वनस्पतिकायिक जीव**—वृक्ष, पौधे, लतायें आदि ही जिनके शरीर हैं उन्हें वनस्पतिकायिक जीव कहते हैं। पृथिवी के भेदों की तरह इसके भी सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, ये चार भेद बताये गये हैं।[२१] बादर, पर्याप्त वनस्पतिकाय के साधारण शरीर वाली वनस्पति और दूसरी प्रत्येक शरीर वाली वनस्पति, ऐसे दो भेद किये गये हैं।[२२] साधारण और प्रत्येक के भी प्रकारों का उल्लेख है।[२३]

४. **अग्निकायिक जीव**—ऐसे जीव जिनका शरीर ही अग्नि है, अग्नि से पृथक् नहीं हो सकते। पृथिवी की तरह इसके भी चार भेद हैं।[२४] उनमें से बादर पर्याप्त अग्नि अनेक प्रकार से वर्णित की गयी है।[२५] अग्निकाय के अनेक भेद बताये गये हैं।

५. **वायुकायिक जीव**—ऐसे जीव जिनका शरीर ही वायु है, वायु से पृथक् नहीं हो सकते, वायुकायिक जीव कहलाते हैं। वायुकाय के भी चार भेद हैं।[२६] बादर पर्याप्त वायु के पाँच भेद बतलाये गये हैं।[२७]

इस तरह संक्षेप में बादर (स्थूल) एकेन्द्रिय स्थावर जीवों का विभाजन ग्रन्थ में किया गया है। इनकी आयु (भवस्थिति) कम से कम अन्तमुहूर्त एक समय से लेकर ४८ मिनट तक की होती है तथा अधिक से अधिक पृथिवीकायिक की २२ हजार वर्ष, अप्काय की ७ हजार वर्ष वनस्पति काय की १० हजार वर्ष, अग्निकाय (तेजस्काय) की तीन दिन-रात और वायुकाय की तीन हजार वर्ष की है।[२८] इस आयु के पूर्ण होने के बाद ये जीव नियम से एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर लेते हैं।

त्रस जीव

दो इन्द्रियों से लेकर पाँच इन्द्रियों वाले जीव त्रस कहलाते हैं। त्रस जीवों के चार भेद हैं।[२९]

१. **द्वीन्द्रिय जीव**—जिनमें स्पर्शन और रसना दो ही इन्द्रियाँ हों, वे द्वीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त दो भेद किये गये हैं।[३०] इसके अतिरिक्त भी इनके अनेक भेद ग्रन्थ में दिखायी देते हैं।[३१]

२. **त्रीन्द्रिय जीव**—स्पर्शन, रसना और घ्राण इन तीन इन्द्रियों से युक्त जीव त्रीन्द्रिय कहलाते हैं। इसके भी पर्याप्त और अपर्याप्त दो भेद किये गये हैं।[३२] इसके अतिरिक्त भी इनके अनेक भेद ग्रंथ में दिखायी देते हैं।[३३]

३. **चतुरिन्द्रिय जीव**—स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियों से युक्त जीव चतुरिन्द्रिय जीव कहलाते हैं। ये जीव भी दो प्रकार के हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त[३४]। इनके उपभेदों के बारे में भी ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है।[३५] उपर्युक्त तीनों प्रकार के

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जीव स्थूल होने से लोक के एकदेश में रहते हैं।[36] ये अनादिकाल से चले आ रहे हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे, परन्तु किसी जीव विशेष की स्थिति की अपेक्षा सादि और सान्त हैं।[37] इन सभी की स्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त है तथा अधिक से अधिक द्वीन्द्रिय की १२ वर्ष, त्रीन्द्रिय की ४९ दिन, चतुरिन्द्रिय की ६ मास है।[38] रूपादि के तारतम्य से इनके हजारों भेद हो सकते हैं।[39] एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के सभी जीव तिर्यञ्चों की ही श्रेणी में आते हैं।

४. **पञ्चेन्द्रिय जीव**—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और कर्ण इन पाँच इन्द्रियों से युक्त जीव पञ्चेन्द्रिय कहलाते हैं। इनके मुख्यतः चार प्रकार हैं, जो निम्नलिखित हैं—[40]

१. **नारकी जीव**—अधोलोक में निवास करने वाले जीव नारकी कहे जाते हैं। अधोलोक में सात नरक भूमियाँ हैं। जिनका कि ग्रन्थ में निर्देश किया गया है।[41] इनकी अधिकतम आयु ऊपर से नीचे के नरकों में क्रमशः १ सागर, ३ सागर, ७ सागर, १० सागर, १७ सागर और ३३ सागर है। निम्नतम आयु प्रथम नरक की १० हजार वर्ष तथा अन्य नरकों में पूर्व २ के नरकों की उत्कृष्ट आयु ही आगे २ के नरकों की निम्नतम आयु है।[42]

२. **तिर्यञ्च**—एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय वाले जीव तथा पंच इन्द्रियों में पशु-पक्षी आदि तिर्यञ्च कहलाते हैं। तिर्यञ्च अविसंमूर्च्छित और गर्भज भेद से दो प्रकार के हैं।[43] दोनों के पुनः जल, स्थल और आकाश में चलने की शक्ति के भेद से तीन भेद किये गये हैं।[44]

(क) जलचर तिर्यञ्च—जल में चलने-फिरने के कारण इन्हें जलचर कहते हैं। ग्रन्थ में इनके पाँच भेद बताये गये हैं।[45]

(ख) स्थलचर—स्थल (भूमि) में चलने के कारण दो जातियाँ हैं—चतुष्पद और परिसर्प।[46] चतुष्पद के चार प्रकार बताये गये हैं।[47] इसी प्रकार परिसर्प की मुख्य दो जातियाँ हैं।[48]

(ग) नभचर—आकाश में स्वच्छन्द विहार करने में समर्थ जीव नभचर कहलाते हैं। ऐसे जीव मुख्यतया चार प्रकार के हैं।[49]

इस तरह पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच मुख्यतः तीन प्रकार के हैं। इनकी आयु निम्नतम अन्तर्मुहूर्त्त तथा अधिकतम १ करोड़ पूर्व जलचर की, ३ पल्योपम स्थलचर को तथा असंख्येय भाग पल्योपम नभचर की है।[50] शेष क्षेत्र एवं कालकृत वर्णन द्वीन्द्रियादि की तरह है।[51]

३. **मनुष्य**—संसारी जीवों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है और चार दुर्लभ अंगों की प्राप्ति में एक मनुष्य जन्म भी है।[52] मनुष्य पर्याय की प्राप्ति पुण्यकर्म विशेष होती है।[53] उत्तराध्ययन में उत्पत्ति स्थान की दृष्टि से सम्मूर्च्छित और गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज) मनुष्य के दो भेद किये गये हैं।[54] गर्भ से उत्पन्न होने वाले मनुष्य तीन प्रकार के हैं—कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अन्तरद्वीपक।[55] ग्रन्थ में इनके संख्यागत भेदों का १५, ३० और २८ इस प्रकार क्रमपूर्वक वर्णन किया गया है।[56] इनकी कम से कम आयु अन्तर्मुहूर्त्त तथा अधिक से अधिक तीन पल्योपम बतलायी गयी है।[57]

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

४. **देवजीव**—पुण्य कर्मों का फल भोगने के लिए जीव देवपर्याय को प्राप्त करता है ।[५८] भौमेय, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक ये चार प्रकार के देव कहे जाते हैं ।[५९] इनके अन्य अवान्तर प्रमुख २५ भेद हैं ।[६०] परन्तु इकतीमवें अध्ययन में २४ प्रकार के देवों[६१] की संख्या का उल्लेख है ।

१. **भवनपति या भवनवासी देव**—भवनों से उत्पन्न होने वाले देवों को "भवनपति" या "भवनवासी" कहते हैं । इनकी दस जातियाँ हैं ।[६२]

२. **व्यन्तर देव**—जिनके उत्कर्ष और अपकर्षमय रूप विशेष हैं तथा गिरि, कन्दरा वृक्ष के बिवरादि में जिनका निवास है उनको व्यन्तर देव कहते हैं । उत्तराध्ययन सूत्र में इनकी संख्या आठ बतायी गयी हैं ।[६३]

३. **ज्योतिषी देव**—जो तीनों लोक में प्रकाश करने वाले विमानों में निवास करते हैं ।[६४] उनको ज्योतिषी कहा गया है । इनके पाँच भेद बताये गये हैं ।

४. **वैमानिक देव**—जो विशेष रूप से माननीय हैं तथा किये हुए शुभकर्म के फल को विमानों में उत्पन्न होकर यथेच्छ भोगते हैं । उनका नाम वैमानिक है ।[६५] मुख्यतः दो प्रकार के वैमानिक देव कहे गये हैं ।[६६] इनके भी कई भेद तथा उपभेद हैं ।[६७]

सन्दर्भ-संकेत

(१) उत्तराध्ययन सूत्र, २८/१०. (२) वही, २८/११. (३) वही, १४/१९.
(४) वही, २/२७. (५) वही, ३६/६४. (६) वही, २०/३६-३७.
(७) वही, ३६/५६. (८) वही, ३६/४८. (९) वही, ३६/६६.
(१०) वही, २९/७४ (११) वही, ३६/६८, (१२) वही, ३६/६९.
(१३) वही, ३६/६९. (१४) वही, २६/३०-३१. (१५) वही, २६/३०-३१.
(१६) वही, ३६/७०. (१७) वही, ३६/७१. (१८) वही, ३६/७२.
(१९) वही, ३६/७२-७६. (२०) वही, ३६/८४. (२१) वही, ३६/९२.
(२२) वही, ३६/९३. (२३) वही, ३६/९६-९९. (२४) वही, ३६/१०८.
(२५) वही ३६/१०९-११०. (२६) वही, ३६/११७. (२७) वही, ३६/११८-११९
(२८) वही, ३६/८० तथा देखिए, वही, ३६/८८, १०२, ११३, १२२.
(२९) वही, ३६/१२६. (३०) वही, ३६/१२७. (३१) वही, ३६/१२८-१३०.
(३२) वही, ३६/१३६. (३३) वही, ३६/१३७-१३९. (३४) वही, ३६/१४५.
(३५) वही, ३६/१४६-१४९. (३६) वही. ३६/१३० तथा ३६/१३९, १४९.
(३७) वही, ३६/१३१ तथा ३६/१४०, १५०. (३८) वही, ३६/१३२, १४१, १५१.
(३९) वही, ३६/१३५. (४०) वही, ३६/१५५. (४१) वही, ३६/१५६, १५७.
(४२) वही, ३६/१६०-१६६. (४३) वही, ३६/१७०. (४४) वही, ३६/१७१
(४५) वही, ३६/१७२. (४६) वही, ३६/१७९. (४७) वही, ३६/१८०,
(४८) वही, ३६/१८१. (४९) वही, ३६/१८८,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(५०) उत्तराध्ययन सूत्र, आत्माराम टीका, पृ० १७४५
(५१) वही, ३६/१७५, ३६/१८४, ३६/१९१. (५२) वही, ३/१, ३/४०.
(५३) वही, ३/७, ६, २०, (५४) वही, ३६/१९५. (५५) वही, ३६/१९६
(५६) वही, ३६/१९७. (५७) वही, ३६/२००. (५८) वही, ७/२९ तथा २१, १६.
(५९) वही, ३६/२०४ तथा ३४/५१. (६०) वही ३६/२०५. (६१) वही, ३१/१६.
(६२) वही, ३६/२०५. (६३) वही, ३६/२०६. (६४) वही, ३६/२०७.
(६५) वही, ३६/२०८. (६६) वही, ३६/२०८. (६७) वही, ३६/२००-२१० तथा साथ में देखिए ३६/२११, ३६/२१२-२१५, ३६/२१५-२१६

●

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री सम्मानित

नई दिल्ली, १४ जून-केन्द्रीयमन्त्री श्री शंकरराव चव्हाण ने आज यहाँ प्राचीन वाङ्मय के विद्वान् और स्वतंत्रता सेनानी ९२ वर्षीय पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री को कुन्द-कुन्द पुरस्कार से सम्मानित किया। उन्होंने इस अवसर पर अपील की कि देश में आतंकवाद मिटाने और शान्ति स्थापित करने के लिए सभी एक होकर काम करें। तालकटोरा स्टेडियम में हुए समारोह में पंडितजी को रजत प्रशस्ति-पत्र और एकावन हजार रुपये की सम्मान राशि दी गई।

श्री चव्हाण ने कहा कि भारत के चिन्तकों ने जीवमात्र के कल्याण की भावना से साहित्य-सर्जन किया। उन्होंने कहा कि जैनधर्म के अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह सिद्धांतों में ही मानव की समस्याओं का हल है। इनको जीवन में उतारना होगा। समारोह में राष्ट्रसंत आचार्य विद्यानन्द जी महाराज भी उपस्थित थे।

प्रख्यात समाज सेवी एवं कवि श्री ताराचन्द प्रेमी ने गृहमन्त्री को सम्बोधित करते हुए कहा कि भारतीय जैन समाज अहिंसक और शान्ति प्रिय समाज है। राष्ट्र की धारा के साथ चलते हुए जैन समाज ने देश की प्रगति में समय-समय पर तन-मन-धन से महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यह बहुत दुर्भाग्य की बात है कि दूरदर्शन केन्द्र अपने प्रसारण में अंडे और मांस का खुला प्रचार करके सम्पूर्ण देश में अहिंसक और शान्तिप्रिय समाज की भावनाओं को पीडित करता है। आप इस देश में अमन और शांति के रक्षक हैं। हमारी आप से प्रार्थना है कि इस अन्याय को तुरन्त रोकने का उपाय करें। प्रेमी जी की इस अपील का सभागार में उपस्थित हजारों श्रोताओं ने करतल ध्वनि से समर्थन किया। गृहमन्त्री श्री चव्हाण ने अपने प्रवचन में कहा कि अपरिग्रह सारे समाज के हित में है। अगर हम इस सिद्धान्त का पालन करें तो अपने देश में बहुत से आमादों को दूर कर सकते हैं। इस सिद्धान्त पर चलकर सारी समस्याओं का हल हो सकता है।

केन्द्रीय गृहमन्त्री ने भरोसा दिलाया कि वे अहिंसक समाज की भावनाओं में अपनी भावना सम्मलित करके सूचना एवं प्रसारण मंत्री से यह आग्रह करेंगे कि अहिंसक लोगों की भावनाओं को समझें और दूरदर्शन पर अण्डों का प्रचार बन्द कराकर धार्मिक विचारों का सम्मान करें।

इस अवसर पर आचार्य विद्यानन्द जी महाराज ने कहा कि जगन्मोहन लालजी ने बिना किसी भेदभाव के अनेक योग्य विद्वान् तैयार किए। उन्होंने कहा कि विद्वानों की कोई जाति नहीं होती और सभी उसका लाभ उठाते हैं!

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् ने पंडित जी को शाल और स्वर्णपदक से सम्मानित किया।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पंडित जी ने पुरस्कार में मिली ५१ हजार रु० की सम्मान राशि ज्ञान-दान में जुटी संस्था "निजज्ञान सागर शिक्षा कोष" को दान में दे दी।

स्वनामधन्य पण्डित जगन्मोहनलाल जी शास्त्री प्राचीन परम्परा के उन बहुश्रुत विद्वानों में अन्यतम हैं, जिनको बहुज्ञता और विद्वत्ता का लोहा समान रूप से सभी मानते हैं। यदि ज्ञान के स्वर्ण में चारित्र की सुगन्धि हो तो वह स्वर्ण अनर्घ्य और दिव्य कहलाता है। मान्य पंडित जी का जीवन ज्ञान की गरिमा से जितना उद्दीप्त है, उतना ही चारित्र के सौरभ से महकता भी है। उनके जीवन का प्रतिपल ज्ञान और आचार के संगम में अवगाहन करते हुए व्यतीत होता है।

आपने कुशल पत्रकार, प्रभावक वक्ता, गहन विषयों के सरल लेखक, सामाजिक विवादों में सभी के श्रद्धाप्राप्त न्यायकर्ता; संस्थाओं के सर्वप्रिय अधिकारी आदि विविध रूपों में समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त की है। आपने दीर्घ काल तक भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, अखिल भारतीय परवार सभा, अखिल भारतीय विद्वत्परिषद्, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, जैन शिक्षा संस्था कटनी आदि सामाजिक संस्थाओं का संचालन किया है। आपने साप्ताहिक जैन सन्देश के सम्पादक के रूप में वर्षों तक समाज को नेतृत्व दिया है।

आपकी साहित्य-रचना सोद्देश्य रही है। आपके द्वारा लिखित एवं सम्पादित ग्रन्थों में प्रमुख हैं—श्रावक धर्म प्रदीप, अध्यात्म अमृत कलश, प्रवचन सारोद्धार और आत्म प्रबोध। आपने अपने ग्रन्थों के द्वारा समाज में धर्म के प्रति गिरती हुई आस्था को जगाने और ज्ञान के प्रति बढ़ती हुई अरुचि को जागृत करने का पावन प्रयत्न किया है। आपने समाज सेवा करते हुए जो खट्टे-मीठे अनुभव अर्जित किये हैं, उनके संस्मरणों की संख्या विशाल है। ये संस्मरण जितने रोचक हैं उतने ही उद्‌बोधक भी हैं। आप जितने धर्मनिष्ठ हैं, उतने ही राष्ट्र-भक्त भी हैं। आप अपने स्वर्गीय पिताश्री के चरण-चिह्नों पर चलकर वर्षों से गृहविरत त्यागी के रूप में त्यागी-आश्रम कुण्डलपुर में आत्म साधना में निरत हैं।

भास्कर परिवार पण्डित जी के शतायु होने की कामना करता है।

—सम्पादक

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

डॉ० जी. टी. कलघटगी को श्रद्धांजलि

"धारवाड़ कर्नाटक-जैनविद्या के जाने-माने यशस्वी विद्वान् डॉ० टी. जी. कलघटगी का गत २५ मई को पचहत्तर वर्ष की अवस्था में देहान्त हो गया। उन्होंने ६ ग्रन्थ लिखे, ५ ग्रन्थों का संपादन किया और करीब १०० शोध लेखों का वाचन किया। उनकी बहुमूल्य कृति "ए स्टडी ऑफ जैनिज्म" मुद्रणाधीन है। वे कर्नाटक आर्टस कॉलेज धारवाड़ के प्राचार्य, मद्रास, मैसूर विश्वविद्यालयों में जैनविद्या के प्रोफेसर, तथा मूडबिद्री-स्थित श्रीमती रमारानी जैन शोध संस्थान के निदेशक रहे हैं।"

उपर्युक्त समाचार पढ़कर बहुत दुख हुआ। मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय में डॉ० टी. जी. कलघटगी का भाषण सुनने का सुअवसर मिला था। उसी समय उनसे परिचय भी हुआ। स्वर्गीय श्री राजकृष्ण जैन स्मृति व्याख्यान माला के अन्तर्गत आपका भाषण बहुत विद्वत्तापूर्ण और प्रभावशाली था। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुयी कि स्वर्गीय डॉ० हीरालाल जैन और डॉ० ए. एन. उपाध्याय की कमी को डॉ० कलघटगी ने पूरा किया।

जैनविद्या के इतने बड़े विद्वान् का स्वर्गारोहण हो गया। यह जैनविद्या के लिए बहुत बड़ा आघात है। हम उनके प्रति अपनी तथा जैन सिद्धांत भास्कर परिवार की ओर से सादर श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। उनकी आत्मा को शांति प्राप्त हो। उनके परिवार के सभी व्यक्तियों के प्रति हम अपनी हार्दिक समवेदना प्रेषित करते हैं।

—सुबोधकुमार जैन

पी-एच० डी० उपाधि से विभूषित

श्रीमती निशा को उनके शोधप्रबन्ध "भगवती आराधना का समीक्षात्मक अध्ययन" विषय पर रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि से विभूषित किया गया। आपने यह शोधप्रबन्ध डॉ० रमेशचन्द्र जैन के निर्देशन में तैयार किया था। शोधकर्त्री एवं निर्देशक दोनों को भास्कर परिवार की ओर से बधाई।

—सम्पादक

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

राष्ट्रसन्त उपाध्याय अमर मुनिजी

—गीतम मिश्र

राष्ट्रसन्त उपाध्याय कविरत्न प्रज्ञामहर्षि अमरमुनि जी सन्त का वीरायतन (राजगीर) में दिनांक १ जून १९९२, अपराह्न साढ़े चार बजे महाप्रयाण हो गया। वे ९० वर्ष के थे। पिछले एक सप्ताह से अस्वस्थ चल रहे थे।

उनका जन्म १९०२ ई० में शरद पूर्णिमा को हरियाणा प्रान्त के नारनौल (गोधा) में हुआ था। वे कृषक परिवार के सम्पन्न घराने के थे। आप बाल्यावस्था से ही बड़ी तेज-प्रखर बुद्धि के धनी थे। आपने अपने अध्ययन काल में इतनी प्रखर तेजस्विता के साथ अध्ययन किया कि उनके गुरुदेव प्रसन्नता से प्रशंसा करते नहीं थकते थे।

उन्होंने १४ वर्ष की अवस्था में जैन दीक्षा आगरा में आचार्य श्रीपृथवीचन्द्रजी से ग्रहण की थी। आप क्रान्तिकारी एवं परिवर्तनशील विचारों के संत थे। आपने जैनधर्म की रुढ़िवादी परम्पराओं को आमूलचूल परिवर्तन किया। साथ ही मूल को कभी नहीं छुआ। आपका उद्देश्य भगवान महावीर के शान्ति, अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह और मानवतावादी सिद्धान्तों का प्रचार करना था। आपने ५० हजार कि० मी० की पैदल यात्रा कश्मीर से कन्या-कुमारी तक की। इस यात्रा का प्रमुख उद्देश्य देश की एकता, मानव के प्रति मानव का प्यार, मानव सेवा; जाँतिपाँति से ऊपर उठकर रहने का रहा था।

आपने अपने जीवन के प्रारम्भिक २५ वर्ष आगरा में ध्यान, साधना, अध्ययन में एवं भ्रमण में लगाये। आपने जैन साधु सम्मेलनों को सफल बनाने में अपनी महत्वपूर्ण योग्यता प्रतिभा का परिचय देते हुए अजमेर, भीनासर, आदि सम्मेलनों के लिए जी जान से कार्य किया। आपके संकेत मात्र से आगरा में बॉय एवं गर्ल्स इन्टर कालेजों की स्थापना की गयी। इसके अलावा छोटे-छोटे स्कूल, पुस्तकालय, सन्मति ज्ञानपीठ आदि का निर्माण हुआ। आपको शिक्षा लेने एवं शिक्षा देने में बड़ा ही आनन्द आता था। आप हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत एवं उर्दू के उद्‌भट विद्वान् थे। आपने लगभग २०० पुस्तकों-ग्रन्थों का लेखन-संपादन एवं अनुवाद बड़ी ही सूझबूझ से किया है। आपने महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोष के साथ मिलकर देशहित में काफी विचार विमर्श किया तथा स्वतंत्रता आन्दोलन में भी भाग लिया। आपके दिशा-निर्देशन में श्री अमरभारती (मासिक) पत्रिका का प्रकाशन गत २५ वर्षों से हो रहा है। यह पत्रिका जैन समाज में सबसे अधिक छपने वाली प्रभावशाली पत्रिका रही है। इस पत्रिका के द्वारा पूज्य गुरुदेव श्री ने समाज में एक नई क्रान्ति-कारी पहल की है।

१९६२ में पूज्य गुरुदेव श्री जी ने राजगीर के वैभारभिरि (पर्वत) की सप्तपर्णी गुफा में ४ माह का तेला तप कर वर्षावास किया था। जहां सुनशान जनहीन जंगली पर्वत पर रात्रि के समय शेर दहाड़ मारता हुआ आया, उस समय पूज्य गुरुदेव ध्यान साधना में मग्न थे।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

शेर उनकी परिक्रमा करके दहाड़ें मारता हुआ चला गया। ऐसा गुरुभाई स्वर्गीय श्री अखिलेश-मुनि जी म० से सुनने में आया था। जहां उन्हें आत्मज्ञान एवं भगवत् प्राप्ति हुई। उन्होंने इसी पर्वतराज की तलहटी में जहां भगवान् महावीर ने अपने संदेशों से हजारों-हजार शिष्यों के साथ साक्षात्कार किया। एक प्रकाश का उन्हें आभाष हुआ और उसे विस्तार देने के उद्देश्य से भगवान महावीर स्वामी के नाम से ही वीरायतन 'वीर-भगवान महावीर, आयतन पवित्र स्थान, संस्थान की स्थापना की। और आचार्यश्रीने चन्दना जी को मूर्तरूप देने का भार प्रदान किया। इस संस्थानका उद्देश्य सेवा, शिक्षा, साधना, रहा है। जहां आधुनिक तकनीकी विधि द्वारा आखों के ३५ हजार आपरेशन किये गये हैं। भारत की पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इन्हें राष्ट्रहित में काम करने के कारण राष्ट्रसन्त की उपाधि से अलंकृत करते हुए शाल, अहिंसा भावन, दिल्ली में भेंट की। आगरा विश्वविद्यालय ने मानद, डी० लिट् की उपाधि से सम्मानित किया।

राष्ट्रसन्त पूज्य गुरुदेव का जन्म जहां प्रकाश रूपी शरद पूर्णिमा को हुआ वही अमावस्या को दिनांक १ जून–९० को अपराह्न साढ़े चार बजे निर्वाण को प्राप्त हुए। ज्ञातव्य है कि राष्ट्रसन्त का अर्हद् संघ विद्वान् संतों और विद्वान् साध्वियों का भरापूरा संघ है। राष्ट्रसन्त का पार्थिव शरीर भक्तजनों के दर्शनार्थ वीरायतन में उनके आवास स्थल पर रखा गया था। जहां काफी संख्या में भक्तगण उनके अन्तिम दर्शनों के लिए सुदूर प्रान्तों से पधारे।

प्रज्ञामहर्षि के दुखद निधन का समाचार भारत के प्रधानमंत्री श्री पी० वी० नरसिंह-राव को जैसे ही मिला, उन्होंने गुरुदेव की आत्मा को शान्ति प्रदान करने के लिए दो मिनट का मौन धारण कर शोक संदेश में कहा-हमने जैन, बौद्ध, वैदिक दर्शन का एक महान विद्वान् सन्त खो दिया है। वे हमेशा सत्य-अहिंसा के पुजारी रहे। अपने शोक संवेदना पत्र के साथ उन्होंने एक शाल भी भेंट किया, जिसे आचार्य श्री चन्द्रास्वामी जी ने अपने कर कमलों से पूज्य गुरुदेव को अर्पित किया।

अन्तिम संस्कार में आचार्य महामण्डलेश्वर, आचार्य चन्द्रास्वामी जी, श्रीरामलखन सिंह यादव सांसद (जनतादल), श्री सुरेन्द्रप्रसाद तरुण, पूर्व शिक्षा मंत्री (बिहार) एवं अन्य प्रतिष्ठित राजनेता, समाजनेता, धर्मनेता, एवं गुरुदेव के अनन्य भक्तगण हजारों की संख्या में सम्मिलित हुए। डॉ० जगन्नाथ मिश्र, अध्यक्ष इंका (बिहार राज्य), पूर्व प्रधानमंत्री श्री-चन्द्रशेखर सिंह, आचार्य सुशीलकुमार, श्री भँवरलाल नाहटा, आदि के संदेश प्राप्त हुए।

दिनांक २-६-९२ को गुरुदेव का पार्थिव शरीर खुले वाहन में दर्शन हेतु रखा गया। शोभायात्रा अपराह्न ४ बजे वीरायतन से प्रारम्भ होकर राजगीर के मुख्य मार्ग से होते हुए पुनः वीरायतन पहुँची। शोभायात्रा का राजगीर की जनता ने भव्य स्वागत किया और पुष्प-वर्षाकर गुरुदेव के अन्तिम दर्शन किये। श्वेताम्बर कोठी, दिगम्बर कोठी, पूर्वभारत एवं श्रीसुरेन्द्रप्रसाद तरुण ने विशेष तोरण बनाकर शोभायात्रा का स्वागत किया। कई स्थानों पर

Ac. Gunratnasuri MS　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　Jin Gun Aradhak Trust

साधारण जनता ने भी आत्म विह्वल होकर अश्रु पूर्ण नेत्रों से अपने गुरुदेव पर पुष्प वर्षा कर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करने की प्रभु से प्रार्थना की।

अपराह्न ६-४५ बजे वीरायतन के अध्यक्ष श्री नवलमलजी फिरोदिया ने मुखाग्नि, देकर अन्तिम संस्कार किया। इस अन्तिम अर्पण के साथ (खचाखच भरे) जन समूह ने गुरु भक्तों ने 'गुरुदेव जिन्दावाद, गुरुदेव अमर रहे. के नारे लगाये। साथ ही जैनधर्म, वैदिक एवं, बौद्ध मंत्रों का पाठ किया गया।

हे दीर्घ-द्रष्टा, हे ज्योति पुंज।
प्रस्फुटित तेरा क्रान्ति स्वर॥
वीरायतन की अमर भूमि से,
फले युग युग संदेश अमर॥

—वीरायतन, राजगीर (नालन्दा)

"तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा" ग्रन्थ के चारों भागों का पुनः प्रकाशन

स्वनामधन्य स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा चार भागों में लिखित "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा" ग्रन्थ का प्रकाशन १९७४ में श्री भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत् परिषद् द्वारा हुआ था। ग्रन्थ की महत्ता के कारण अल्प अवधि में ही इसका प्रथम संस्करण समाप्त हो गया था तथा द्वितीय संस्करण की बहुत वर्षों से आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। पूज्य उपाध्याय श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज की प्रेरणा से इसका पुनः प्रकाशन आचार्य श्री शान्तिसागर जी छाणी स्मृति ग्रन्थमाला, बुढ़ाना, जिला-मुजफ्फरनगर (उ० प्र०) से हुआ है। इसी पते से ये चारों भाग पोस्टेज सहित ३२५)०० भेजकर मँगाये जा सकते हैं। ऐसे अमूल्य ग्रन्थ छपकर शीघ्र समाप्त हो जाते हैं, अतः पुस्तकालय, वाचनालय, मन्दिर एवं निजी उपयोग हेतु मँगाने की शीघ्रता करें। चारों भागों का वास्तविक मूल्य चार सौ रुपया है।

—रतन लाल जैन, महामंत्री
आचार्य शान्तिसागर (छाणी) स्मृति ग्रन्थमाला, बुढ़ाना
जिला—मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वाराणसी का ऐतिहासिक भित्तिलेख

डॉ० कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन'

भारत के जिन नगरों को तीर्थंकरों ने जन्म लेकर पवित्र किया है, उनमें वाराणसी भी एक है। चौबीस तीर्थंकरों में दो तीर्थंकर यहाँ जन्में हैं। वे हैं—सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ और तेबीसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ।

इनमें श्री सुपार्श्वनाथ तीर्थङ्कर के नाम का दिगम्बर जैन मन्दिर वाराणसी के भदैनी घाट पर गंगा के किनारे स्थित है। यह श्री स्याद्वाद महाविद्यालय-भवन की दूसरी मंजिल पर है। पूर्व-पश्चिम ३० फुट ७ इंच और उत्तर-दक्षिण १४ फुट इसका विस्तार है। मुख्य प्रवेश-द्वार उत्तराभिमुख है। उत्तर-दक्षिण की भित्तियों में दो-दो द्वार हैं। पूर्व भित्ति में एक द्वार है। इससे गंगा का प्रवाह दिखाई देता है।

मन्दिर का निर्माण शिलाखण्डों से हुआ है। शिखर के तल भाग तक प्रस्तरखण्ड प्रयुक्त हुए हैं। ये प्रस्तरखण्ड आकार में इतने बड़े हैं कि धरातल (छत) से शिखर के तल भाग तक की दीवाल की ऊचाई के लिए केवल आठ प्रस्तर खण्ड ही उपयोग में आये हैं। शिखर में गन्ध-कुटियाँ हैं और चारों दिशाओं में उन गन्धकुटियों में एक-एक पद्मासनस्थ पाषाण निर्मित अर्हन्तप्रतिमा विराजमान है।

मन्दिर दो भागों में विभाजित है—गर्भालय और गर्भालय के सामने का एक कक्ष। पूर्व-पश्चिम दीवाल से दोनों भाग विभाजित हो गये हैं। सुरक्षा की दृष्टि से प्रस्तर खण्डों को परस्पर में जोड़ा गया है किन्तु दीवालों का विभाजन-दोष ज्यों का त्यों बना हुआ है। मन्दिर का जीर्णोद्धार अपेक्षित है।

मन्दिर-भित्ति-शिलालेख

पूर्व की ओर मन्दिर में एक द्वार है जो कभी मुख्य प्रवेश-द्वार रहा है। पूर्वाभिमुखी वेदी भी इसी तथ्य को प्रकट करती है। बताया गया है कि मन्दिर के सामने पूर्व की ओर एक लम्बी-चौड़ी छत थी, जो गंगा की बाढ़ में ध्वस्त हो गयी। संभवतः स्थानाभाव के कारण इस द्वार से गमनागमन रोकना पड़ा। उत्तराभिमुख मुख्य प्रवेश-द्वार उक्त घटना घटने के उपरान्त ही कभी निर्मित हुआ ज्ञात होता है। पूर्वाभिमुख द्वार को चौखट अलंकृत है। कलाकृति पूर्ण है। इस चौखट के धनुषाकार ऊपरी भाग में शिलाखण्ड पर नागरी लिपि और संस्कृत भाषा में ग्यारह पंक्ति का लेख उत्कीर्ण है, जिसका मूलपाठ निम्न प्रकार है—

मूलपाठ

१.।। ॐ ।।

२. श्रीमत्सुपार्श्व जिनदेव इहोर्द्धलोकादाग ।।

३. त्य जन्म धृतवानपरो दिनेशः ।। वाराणसीपुरिसमस्त पदार्थ ।।
४. वेदी लोकेतरार्थ सकल प्रकट प्रकासी ।।१।। तज्जन्ममंगलगृहं भुवि सुप्रसि ।।
५. द्धं पक्षेन्दु रंध्रशशिसम्मिल विक्रमाब्दे ।। सन्माघमाससुदि पंचमि सूर्य ।।
६. वारे साध्येंत्यभे वृष परे परिपूर्णमासीत् ।।२।। अग्रोत्कान्वय सुगोयल गोत्र ।।
७. काष्ठासंघे भवत्परम साधु मवासिलालः ।। तस्यांगजः परमसाधु गणे ।।
८. शिलालः पुत्रस्तु तस्य सुकृती प्रभुदाससंज्ञः ।।३।। तस्यानुजोपि गुणवानरि ।।
९. हंतदासस्तस्यानुजोप्यनु जिनेश्वरदास संज्ञः ।। तस्यानुजोप्यनु मुनीश्वरदा ।।
१०. स संज्ञस्तैर्भ्रातृभिः कृतमिदं सुचिरं विभातु ।।४।।श्री।।श्री।।
११. ।। ह्रीं ।।

मूलपाठ-प्रतिलिपि

मन्दिर की पूर्व-पश्चिम भित्ति में मन्दिर के उत्तरीय द्वार की दायीं ओर नब्बे सेन्टी-मीटर लम्बाई में श्वेत संगमरमर का एक पाषाण-खण्ड खचित है। इस पर दस पंक्ति का एक लेख लिखा है जिसमें दूसरी से नौवीं पंक्ति में चार संस्कृत श्लोक अंकित हैं। प्रथम पंक्ति में ओं और दसवीं पंक्ति में केवल दो बार श्री तथा एक बार ह्रीं लिखा गया है। नागरी लिपि और संस्कृत में लिखा गया यह लेख पूर्वी द्वार के शिलालेख की प्रतिलिपि है। अभिलेख निम्न प्रकार है—

१. ॐ
२. श्रीमत्सुपार्श्वजिनदेव इहोर्द्धलोकादागत्य जन्म धृतवानपरोदिनेशः ।
३. वाराणसीपरिसमस्तपदार्थवेदी लोकेतरार्थसकलप्रकट-प्रकाशी ।।१।।
४. तज्जन्मङ्गलगृहं भुवि सुप्रसिद्धं पक्षेन्दुरन्ध्रशशिसम्मितद्विक्रमाब्दे [१९१२]।
५. सन्माघमासशुचिपञ्चमि सूर्यवारे साध्येऽन्त्यभे वृषपुरे परिपूर्णमासीत् ।।२।।
६. अग्रोत्कान्वयसुगोयलगोत्रकाष्टासङ्घेऽभवत् परमसाधुमवासिलालः ।
७. तस्याङ्गजा परमसाधुगणेशिलालः पुत्रस्तु तस्य सुकृतीप्रभुदाससंज्ञः ।।३।।
८. तस्यानुजोपि गुणवानरिहन्तदासः तस्यानुजोप्यनुजिनेश्वरदाससंज्ञः ।
९. तस्यानुजोप्यनुमुनीश्वरदाससंज्ञस्तै भ्रातृभिः कृतमिदं सुचिरं विभातु ।।४।।
१०. श्री ।। श्री ।। ह्रीं ।।

मूलपाठ-भावार्थ

ऊर्ध्वलोक से इस लोक में आकर दूसरे सूर्य स्वरूप समस्त पदार्थों के ज्ञाता, लोक और लोकेतर सर्व प्रकट अर्थों को प्रकाशित करनेवाले श्रीमान् सुपार्श्वनाथ जिनदेव ने वाराणसी नगरी में जन्म धारण किया ।।१।। उनका सुप्रसिद्ध जन्म-मंगलधाम (जिनमन्दिर) पृथिवी पर विक्रम संवत् १९१२ के माघ मास, शुक्ल पक्ष, पंचमी रविवार के दिन सान्ध्यवेला तथा अन्तिम रेवती नक्षत्र और वृष राशि के पश्चात् अन्तिम मीन राशि में पूर्ण हुआ ।।२।। काष्ठा-संघ में अग्रवाल अन्वय के गोयल गोत्र में परम साधु मवासीलाल हुए। उनके पुत्र परम साधु

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

गणेशीलाल और गणेशीलाल के धर्मात्मा प्रभुदास नामक पुत्र हुए ।।३।। प्रभुदास के अनुज गुणवान् अरिहन्त दास और अरिहन्तदास के अनुज जिनेश्वरदास तथा उनके भी अनुज मुनीश्वरदास हुए । इन (चारों) भाइयों के द्वारा बनवाया गया यह मन्दिर चिरकाल तक सुशोभित रहे ।।४।। मूल शिलालेख की प्रतिलिपि का अर्थ भी यही है ।

पाठ-भेद

मन्दिर का पूर्वी प्रवेश द्वार गमनागमन के लिए बन्द किये जाने और उत्तर की ओर खोले जाने पर मन्दिर-प्रशस्ति को उत्तरी द्वार पर लगाये जाने की आवश्यकता समझी गयी और पृथक् संगमरमर पाषाण खण्ड पर पूर्वी द्वार का शिलालेख लिखवाकर दीवाल में सीमेण्ट से चिपकाया गया । प्रतिलिपिकार से प्रतिलिपि करते समय असावधानी के कारण लेख के जिन अंशों में अन्तर आया है वे अंश हैं—

१. पाँचवीं पंक्ति—दूसरे श्लोक में 'शुचि' शब्द पक्ष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जबकि मूलपाठ में स्पष्ट 'सुदि' पाठ उत्कीर्ण है । इसी पंक्ति में 'वृषपुरे' लिखा गया है । मूलपाठ में पुरे के स्थान में 'परे' पाठ पढ़ने में आता है ।

२. नौवीं पंक्ति में भ्रातृभिः का भ्रा वर्ण मूलपाठ में सरेफ (भ्र्रा) है ।

३. वाराणसी के परवर्ती पुरी शब्द को परि पढ़ा गया है । इसी प्रकार प्रकाशी के 'स' को श ।

यही लेख श्री जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ४१, किरण-१ पृष्ठ २० पर भी प्रकाशित हुआ है । इसमें तीसरी पंक्ति में वाराणसी के पश्चात् 'माघ' शब्द, दूसरे श्लोक के चतुर्थ चरण में में वृषपुरे के पूर्व 'में' वर्ण विचारणीय हैं ।

वृष परे या वृषपुरे

मूलपाठ में 'वृष परे' पाठ पढ़ने आता है । इसके पूर्व सम्वत् मास, पक्ष, दिन का नामोल्लेख करने के पश्चात् 'साध्येन्त्यभे' आया पाठ उल्लेखनीय है । अन्त्य भे का अर्थ अन्तिम नक्षत्र रेवती जैसे समझ में आता है । ऐसे ही अन्त्य भे के पश्चात् 'वृष परे' पाठ होने से हमारा ध्यान वृष राशि की ओर जाता है । परे का अर्थ है परवर्ती । अन्त्य शब्द के संयोजन से वृष परे का अर्थ निष्पन्न होता है—वृष राशि की परवर्ती अन्तिम राशि मीन । यहाँ नक्षत्र और राशि का उल्लेख अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है ।

दूसरा वृषपुर का अर्थ है धर्मपुरी । प्रस्तुत-शिलालेख के प्रथम श्लोक में वाराणसी नगरी का नामोल्लेख एक बार हो चुकने से यहाँ वृषपुर कहना प्रशस्तिकार को मेरी समझ में अभीष्ट नहीं रहा है । उसका भाव रेवती नक्षत्र और मीन राशि का उल्लेख करना ही रहा है । ज्योतिष में मीन राशि रेवती नक्षत्र में आने से भी राशि अर्थ ही अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है ।

परि अथवा पुरि

मूलपाठ में स्पष्ट 'वाराणसीपुरि' पढ़ने में आता है । वाराणसी के साथ 'पुरि' शब्द अपेक्षित भी है । समस्त के साथ परि का प्रयोग तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता ।

—शेष अगले अंक में

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

साहित्य-समीक्षा

पत्र-परीक्षा—आचार्य विद्यानन्द, सम्पादक–डॉ० दरबारी लाल कोठिया, प्रकाशक–वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, सन् १९९१, पृ० संख्या–५२+४८, मूल्य—दस रुपये।

समीक्ष्य ग्रन्थ पत्र परीक्षा का यह दूसरा संस्करण है। इसके पूर्व सन् १९१३ में पं० गजाधरलाल शास्त्री के सम्पादकत्व में जैनधर्म प्रचारिणी सभा काशी द्वारा आप्तपरीक्षा के साथ इसका प्रकाशन किया गया था। प्रस्तुत संस्करण का सम्पादन मुद्रित प्रति से ही हुआ है। सम्पादक को प्रयत्न करने पर भी कोई हस्तलिखित प्रति प्राप्त नहीं हो सकी।

सम्पादक महोदय ने इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ सम्पादकीय पृ० सात पर इस प्रकार लिखी हैं—

१. इसकी पहली विशेषता यह है कि इसमें मूल और उसकी वृत्ति को, जो स्वयं विद्यानन्द की स्वोपज्ञ है, पार्थक्य-सूचक बड़े छोटे अलग-अलग टाइपों में दिया गया है, जबकि पूर्व मुद्रित पहले संस्करण में उन दोनों को मिलाकर छापा गया है, जिससे यह जानना दुष्कर है कि यह मूल है—कारिका है और यह उसकी गद्य रूप स्वोपज्ञवृत्ति—व्याख्या है।

२. दूसरी विशेषता यह है कि इसमें विषय अथवा सन्दर्भ के अनुसार पैरा (अनुच्छेद), उत्थानिका, शीर्षक और उपशीर्षक बना दिये गये हैं। इससे पाठकों को ग्रन्थ के विषय को समझने में सुविधा होगी तथा आगे के विषय को जानने की उत्कण्ठा रहेगी।

३. तीसरी विशेषता है कि इसमें जो अन्य ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के वाक्यों व कारिकाओं को उद्धृत किया गया है, उन्हें हमने [ ] ऐसे खाली या स्थल-निर्देश सहित ब्रैकेट द्वारा सूचित किया है और जिन्हें ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार के नाम से या बिना नाम से 'तदुक्तं' कहकर पत्र परीक्षाकार ने दिया है तथा अपने ग्रन्थ का जिन्हें अंग बना लिया है।

४. चौथी विशेषता यह है कि इसके साथ ग्रन्थ, ग्रन्थ-विषय, ग्रन्थकार परिचय तथा सान्दर्भिक विषयों का निरूपण करने वाली विस्तृत एवं महत्वपूर्ण प्रस्तावना, जो ग्रन्थ का हृदय है, भी सम्बद्ध की गई है और जो न्यायशास्त्र के अभ्यासियों के लिए विशेष उपयोगी एवं लाभदायक सिद्ध होगी।

५. पाँचवीं विशेषता यह है कि ग्रन्थारम्भ से पूर्व मूल 'पत्रपरीक्षा' की समग्र (११५) कारिकाएँ अलग से भी दे दी गई हैं, जिन्हें पढ़ने से मूल विषय एक दृष्टि में आ जाता है।

६. छठी विशेषता है कि ग्रन्थान्त में तीन परिशिष्ट भी निबद्ध हैं—(१) कारिकानुक्रम, (२) बौद्धदर्शन में जय-पराजय व्यवस्था तथा (३) जैनतार्किक और उनके विशिष्ट सन्दर्भ ग्रन्थ।

डॉ० पं० दरबारीलाल कोठिया जैनन्याय के विद्वानों में अग्रणी हैं। उनके द्वारा सम्पादित होकर यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी बन गया है। प्रस्तावना में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाओं

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

का समावेश विशेष रूप से उल्लेखनीय है। परिशिष्ट में जैनतार्किकों एवं उनके विशिष्ट ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण भी दिया गया है। यह अनुसन्धाताओं के लिए विशेष उपयोगी है। ग्रन्थ की छपाई सुन्दर है। विश्वविद्यालयों, ग्रन्थागारों तथा शोधसंस्थानों के लिए संग्रहणीय है।

सम्यक्चारित्र-चिन्तामणि : लेखक—डॉ० पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक, मंत्री, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९८८, मूल्य-पैंतीस रुपये, पृष्ठ संख्या २६ + २०९।

प्रस्तुत संस्कृत पद्यमय रचना श्रमण और श्रावकाचार विषयक है। इसे विद्वान् कवि ने पन्द्रह छन्दों का उपयोग करते हुए (१०६४) एक हजार चौंसठ श्लोकों में पूर्ण किया है। विषय-वस्तु की दृष्टि से कृति में (१३) तेरह प्रकाश हैं। जिनमें क्रमशः चारित्र का लक्षण एवं विधान, चारित्र का अधिकारी एवं भेद, महाव्रतों के लक्षण तथा उनकी भावनाएँ, समितियाँ, इन्द्रिय जय, आवश्यक, पञ्चाचार, अनुप्रेक्षा, मार्गणा एवं गुणस्थानों की ध्यान-योग में आवश्यकता, आर्यिकाओं की दीक्षा विधि, सल्लेखना, देशचारित्र के अन्तर्गत बारह व्रतों और ग्यारह प्रतिमाओं का निदर्शन एवं उनके फलादिकों का सुन्दर वर्णन किया गया है। पण्डित जी जैनदर्शन और साहित्य के उद्भट विद्वान् हैं, उन्होंने जो चारित्र सम्बन्धी सामग्री एक साथ मौलिक रूप में प्रस्तुत की है, वह निश्चय ही अद्वितीय एवं उपयोगी है।

ग्रन्थ की भूमिका विशेष रूप से पठनीय है। प्रकाशकीय, लेखकीय वक्तव्य तथा परिशिष्ट भी उपयोगी हैं। प्रकाशन एवं साजसज्जा अच्छी है। अन्त में चार पृष्ठीय शुद्धि-पत्र संलग्न है। ग्रन्थ साधु, श्रावक एवं पुस्तकालयों के लिए संग्रहणीय है। ग्रन्थ-प्रशस्ति में रचनाकार की भावना इस प्रकार है—

त्रुटीनां शोधने कुर्युर्विद्वान्सो महतीं कृपाम्।
सर्वेषां सहयोगेन जैनवाक्प्रसरो भवेत्॥

समन्तभद्र-ग्रन्थावली : आचार्य समन्तभद्र स्वामी, हिन्दी अनुवाद स्व० पं० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर', संकलन—डॉ० गोकुलचन्द्र जैन, प्रकाशक—मंत्री, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, प्रथम संस्करण—१९८९, पृष्ठ संख्या—१२० + १२०, मूल्य-चालीस रुपये।

आलोच्य ग्रन्थावली आचार्य समन्तभद्र की पाँचों कृतियों का संकलन है। इसमें आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र, जिनशतक और रत्नकरण्ड को मूल एवं हिन्दी अनुवाद के साथ दिया गया है। साथ में देवागम—आप्तमीमांसा पर भट्ट अकलंकदेव द्वारा रचित आप्तमीमांसाभाष्य, आचार्य वसुनन्दिकृत देवागमवृत्ति तथा पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार कृत हिन्दी व्याख्या को अनेक हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर सम्पादित करके दिया गया है, जो दिये गये सन्दर्भों से स्पष्ट है। किन्तु ग्रन्थारम्भ में सम्पादन सामग्री परिचय नहीं दिया गया है जो आवश्यक था। इसके प्रकाशन से समन्तभद्र स्वामी के ग्रन्थ एक साथ पाठकों को मिले हैं, यह महत्त्वपूर्ण है। यदि इसमें आप्तमीमांसा की भाँति अन्य ग्रन्थों की संस्कृत-टीकायें और उनके हिन्दी अनुवाद भी समायोजित हो जाते तो यह अद्वितीय कार्य होता। इस ओर प्रकाशक विद्वान्

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मनीषी डॉ० कोठिया की दृष्टि अवश्य होगी। आशा है वे अपनी देख-रेख में इस ज्ञानयज्ञ को भी अवश्य पूरा करायेंगे।

यापनीय और उनका साहित्य, लेखिका-डॉ० (श्रीमती) कुसुम पटोरिया, प्रकाशक, मंत्री, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, प्रथम संस्करण—१९८८, पृष्ठ संख्या—२५८, मूल्य चालीस रुपये।

समीक्ष्य ग्रन्थ लेखिका का पी-एच० डी० उपाधि के लिए लिखा गया शोध प्रबन्ध है। यापनीय सघ को प्रकाश में लाने हेतु ये पहली और एकमात्र पुस्तक है। इसलिए इसकी लेखिका और प्रकाशक दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक को देखने से लेखिका के श्रम की झलक सहज ही मिल जाती है।

ग्रन्थ छह परिच्छेदों में विभाजित है। प्रथम एवं द्वितीय परिच्छेद में विभिन्न स्रोतों से प्राप्त यापनीयों से सम्बन्धित सामग्री का परीक्षण किया गया है। उनकी पूर्व परम्परा पर भी विचार हुआ है। साथ ही अनेक दिगम्बर संघों की जानकारी देते हुए यापनीयों के उनसे सम्बन्ध निश्चित किये हैं। तृतीय परिच्छेद में यापनीयों के साहित्य पर विचार हुआ है। इसमें तत्वार्थ सूत्र, मूलाचार और भगवती आराधना जैसे दिगम्बर परम्परा द्वारा स्वीकृत ग्रन्थों को यापनीय ग्रन्थ कहा गया है। जबकि इन ग्रन्थों में यापनीय मान्यताएँ कुछ प्रतिशत ही समाविष्ट हैं। अतः इन्हें यापनीय घोषित करने से पूर्व विचार-विमर्श आवश्यक है। चतुर्थ परिच्छेद में यापनीयों की विचार संहिता का विवेचन है, जिसमें स्त्री मुक्ति, केवलिभुक्ति, रात्रिभोजन-विरमण व्रत तथा विजहना जैसे विषयों पर विचार-विमर्श है। पंचम परिच्छेद में यापनीयों की आचार संहिता वर्णित है। जिसमें श्रावक और श्रमण दोनों के आचार विधान वर्णित हैं।

अन्तिम षष्ठ परिच्छेद में यापनीय संघ के धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक और ऐतिहासिक अवदान का मूल्याङ्कन किया गया है। लेखिका ने प्रबन्ध तैयार करने में अथक श्रम करके अपनी अनुसन्धानात्मक सूझ—बूझ एवं लगन का परिचय दिया है। इस प्रबन्धलेखन से जैन परम्परा की तृतीय विलुप्त शाखा प्रकाश में आयो है, इसमें कोई सन्देह नहीं। ग्रन्थ उपयोगी तथा संग्रहणीय है।

—ऋषभचन्द्र फौजदार

चन्दन बाला : श्री मती मीरा जैन, एम. ए., मयंक प्रकाशन, अलीगढ़, मूल्य—आठ रुपये।

तीर्थंकर महावीर क्रान्तिपुरुष थे। उन्होंने सभी प्रकार के दलितों को सहारा दिया और अपने संघ में उन्हें सम्मानपूर्ण स्थान दिया। उनके समवशरण में पशु-पक्षियों तक के लिए स्थान था। संघ में पुरुषों की तुलना में नारियों की संख्या अधिक थी। मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका यह चतुर्विध संघ था। चन्दनबाला आर्यिका संघ की प्रमुख थीं। चन्दनबाला के उत्पीडन की कथा बड़ी मार्मिक है और नारियों के लिए प्रेरक भी। भगवान महावीर ने चन्दन

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

बाला को एक महान नारी बनने का पूरा मौका दिया। श्रीमती मीरा जैनने सर्वथा उचित विषय-वस्तु का चुनाव किया है। काव्यरचना की उनकी धारा और भी अधिक सशक्त होकर प्रवाहित होती रहे, यह शुभकामना है।

षट्खण्डागम लेखनकथा : सम्पादक—प्रो० राजाराम जैन, आरा, प्रकाशक-प्राच्य श्रमण भारती प्रकाशन समिति, गया, मूल्य दस रुपये।

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि प्रणीत षट्खण्डागम, दिगम्बर परम्परा का प्रमुख आगम-ग्रन्थ है। प्रथम सदी ईसवी के आसपास आचार्य धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि नामक दो तपस्वियों को महिमानगरी से बुलवाया। आन्ध्रप्रदेश के ये दोनों योग्य मुनिराज गिरिनार पर्वत पर पहुँचे। बाद में उन्हीं ने षट्खण्डागम सूत्रों की रचना की। सन् ८१६ ई० में आचार्य वीरसेन ने इसकी 'धवला' नाम से विशाल टीका लिखी। षट्खण्डागम की भाषा शौरसेनी प्राकृत है। डॉ० राजाराम जैन ने इस कृति के द्वारा शौरसेनी प्राकृत आगमों के लेखक की कथा को अत्यन्त सरल और सरस बनाकर प्रस्तुत किया है। इसका मूलस्रोत धवला टीका का प्रथम भाग है। विद्वान लेखक उक्त कृति के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

मुक्ति का आनन्द : लेखक—डॉ० शेखरचन्द्र जैन-राशि जैन-समन्वय प्रकाशन-कीमत १०/-

इस रचना में डॉ० जैन ने १० विषयों पर विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे हैं। सभी 'का' चयन सिद्धांत से ओतप्रोत है। लिखने की शैली इनकी ऐसी है, जिसे पढ़कर विद्यार्थी से विद्वान् तक सभी लाभ उठा सकते हैं। इसमें स्वर्गीय, पं० बाबूलाल जी जमादार की विद्वत्तापूर्ण भूमिका पढ़कर उनकी याद आ गई। दो-तीन बार उनसे मिलने और विचारों के आदान-प्रदान करने का सुअवसर मिला था। राजगृह में मैंने एक सेमिनार आयोजित किया था। उसमें उनका भाषण सुनकर मैं बहुत प्रभावित हुआ। ऐसे विद्वान के द्वारा डॉ० शेखरचन्द्र जैन तथा उनकी पुस्तक की जो प्रशंसा की गई है, उसे पढ़कर खुशी हुयी। हमारी शुभ कामना है कि डॉ० जैन की लेखनी इसी प्रकार चलती रहे।

—सुबोध कुमार जैन

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. 45 December 1992 No. 1-2

❀

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ।।"

Editorial Board

Dr. Rajaram Jain
Dr. Gokul chandra Jain
Dr. Aditya Prachandiya
Dr. Shashikant

Edited by

Dr. Kastur Chandra Kasaliwal
Dr. Rishabha Chandra Fouzdar

Published by

Ajay Kumar Jain, Secretary

Shri Devkumar Jain Oriental Research Institute

SHRI JAIN SIDDHANT BHAWAN

ARRAH, BIHAR (INDIA)

❀

ANNUAL SUBSCRIPTION

Inland Rs. 50/-] [Foreign Rs. 75/-

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Contents

1. Digambara Jain Prakrit Literature and Śaurasenī

—Dr. Gokul chandra Jain 1

2. Evolution Theory of Kundakunda

—Devendra Kumar Jain 10

3. Weights and Measures in Jain Canons :

(a) Mass and Volumes.

—Dr. N. L. Jain 16

4. Pandit Jaganmohana Lal Shastri

—S. K. Jain 30

5. Jains in Modern Society

—Dr. Jagdishchandra Jain 33

6. Jainism and Nepal

—H.C. Golchha 37

7. The Illustrated Jain Rāmāyana 40

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Digambara Jaina Prakrit Literature and śaurasenī

Dr. Gokul Chandra Jain

In this paper I would like to take up for discussion two fundamental issues which have become of crucial importance for the studies and research in prakrits in general and Digambara Jaina Prakrit Literature (DJPL) in Particular :

1. The designation of the DJPL.
2. Historical and objective studies of DJPL.

In this connection the studies and researches of earlier scholars Western as well as Indian help to a great extent for which the present generation must be grateful to them. But at the same time their findings should be used with caution. Before handling, it needs to be examined critically without prejudice, pretention and scepticism. There are obvious reasons to say so.

During last few decades much new fields have been explored and interdisciplinary approach has further widened the scope of research. The literary researches are not confined now to its own particular branch but essentially required to be conducted in relation to other sources literary, archaeological and so on. The studies ought to be integrated and, analytical in nature and critical but sincere in presentation. Side-tracking and will guessing do not result fruitful. These rather misguide the new scholars. Even some ancient works, particularly commentries proved misleading and bearing false stamp.

The study of Digambara Jaina Prakrit Literature (DJPL) is not only important from the point of linguistics but it is more important from many other point of views. For instance the history of the Śramaṇa tradition in general and of Digambara Jaina tradition in particular highly depends on it. Secondly it throws considerable light on the development of Jaina doctrines. Thirdly it is significant for deciding the chronology of works and authors. And last but not the least the study of DJPL can play an important role in historical

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

perspectlve on the Socio-cultural life of India. On the other hand the prejudiced studies or bad handling will endanger the entire Śramaṇa tradition.

Designation of Digambara Jaina Prakrit Literature

Before we derive any conclusion to designate the DJPL some facts need to be taken into consideration. So for the DJPL has not been studied linguistically. Even the Prakrit texts are yet to be edited critically. Dr. A. N. Upadhye opines that most of the published works simply represent readable individual manuscripts.

On the basis of some specimen studies some names have been suggested by Western scholars like Pischel, Jacobi, Denecke and others.

The question arises whether under the present state of our study will it be consistent to the tradition to designate the available DJPL as 'Śaurasenī Āgama' in the similar sense in which the Śvetāmbara canon is called 'Ardhamāgadhī Āgama'. In this conection the hypothesis proposed and views expressed by Western as well as Indian scholars deserve rethoughts and serious consideration.

Western scholars have expressed different views regarding various Prakrits. Professor Richard Pischel will known for his Prakrit grammar. He, with the analysis of a few gāthās from Pravacanasāra and Kattigeyānuppekkhā as quoted by Bhandarkar, came to the conclusion, with a remarkable grasp and suggestiveness, that this dialect should be called 'Jaina Śaurasenī' (Gr. Pr. Spr. p. 20).

Professor Herman Jacobi has suggested that the language be called 'Pre-classical Prakrit' (Bh. Dh. pp. 81-89).

Some other scholars like Dr. Schubring have questioned the accuracy of the designation 'Jaina Śaurasenī'. He remarks 'the future will teach us whether the signification Pischel proposed viz. 'Jaina Śaurasenī' will appear adequate' (op. cit. Ps. p. 116).

Dr. Walter Denecke says that it was unlucky that Pischel called this dialect as Jaina Śaurasenī;, that Pischel's treatment and conclusion are not free from mistakes, and according to his opinion the name 'Digambarī language' is a better designation (Fes. Jac. 75). It

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

is remarkable that the diffenent views have been expressed but no Western scholar proposes any designation.

Dr. A. N. Upadhye in his 'Introduction to Pravacanasāra' has reviewed the above statements and shown his agreeness with pischel. But at the same time he has given his own observations regarding the language of Digambara Jaina Prakrit Literature in general and Kundakunda's works in particular (Intro. to PS. pp 115-17). He proposes to call the DJPL as pro-canonical texts. He writes 'I would call these early Jaina Śaurasenī works as the Pro-Canonical texts of the Jainas' (Ibid p. 119).

Dr. Upadhye has given an elaborate description of the Prakrit Dilect of Pravacanasāra but beginning with the introductory remarks. It is rather premature to attempt an exhaustive grammar of the gāthās of Kundakunda from his various works, because the various editions of Kundakunda's works, that we have today, simply represent readable MSS, and can hardly be called critical, as we understand that term today. Even the present text of Pravacanasāra is not strictly critical...' (Ibid. pp. 106–16).

Dr. H. L. Jain discussed some peculiarities of the language of a small fraction of ṣaṭkhaṇḍāgama appeared in the first volume and has shown his agreement with Pischel. He writes, 'This is exactly the nature of the language called Jain Śaurasenī by Dr. Peschel and subsequent writers.' (Intro. Skh. Vol. 1).

As for as, I know for the first time Dr. J. C. Jain has used the term 'Śaurasenī Āgama' for entire DJPL, making passing references of Pischel and Jacobi. He makes a categorical statement, 'जैसे श्वेताम्बर जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी है, वैसे ही दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थ शौरसेनी में निहित हैं।' (प्रा० सा० इ० पृ० ३०) Dr. Jain has not given any detail in support of his statement. He is also silent about its age. The works treated under the head of 'Śaurasenī Āgama' belong up to sixteenth century. He speaks of some common gāthās in Digambara and 'Śvetāmbara literature but he keeps quiet about the language of the same (PSI).

Dr. N. C. Shastri makes variable uses like old Śaurasenī, Jaina Śaurasenī. Śauraseuī and Śaurasenī Āgama. He has given quite good details. For the first time he has presented a comprehensive recored

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

of Prakrit languages and literature at one place. He is so enthusiastic in making his statement conductive that at many places they have become confusing and self contradictory.

Presently the above two Hindi books are used as the most popular source of study of Prakrit literature. Hence the details furnished in these books are significant for future, and any slip or lacuna may result harmful to the study (PBSAI).

With due respect to the above mentioned scholars and taking their studies tenable, I made some fresh efforts regarding restoration of Digambara Jaina canons, and to begin with wrote a paper entitled 'A search for the tradition of Śaurasenī Prakrit Āgamas' for the 33rd session of all India Oriental Conference, held at Calcutta in 1986. During subsequent years too I have continued my studies in this direction. Following the recent developments, I fear that if without waiting for further study we accept the dialect or dialects used in DJPL as Śaurasenī designate, the entire titerature as Śaurasenī Āgama, Several questions arise and unfortunate consequences which may be very hurting to the tradition cannot be denied. Before I draw the attention of the assembly, to such questions, it will be better to present my observations on historical and objective study as well.

Historical and Objective Studies

Historical and objective studies of Prakrit Jaina Literature in general and of DJPL in particular are meagre in quantity and full of controversies. When western scholars like Winternitz wrote his 'History of Indian Literature; he had limited material before him. Since then much has come down; but still some later writers too did not make full use of it. Objective studies are exclusively limited to the introductions of some texts. Same is the position of historical studies.

Undoubtedly the Prakrit Jaina literature abounds in material for historical and objective studies. But when absolutely different and contradictory views are expressed by celebrated scholars, it is very difficult to take them tenable. Hence these deserve to be re-examined, and while doing so certain fundamental facts are to be taken into consideration.

Historically the Jaina Śramaṇa Tradition is one and the same.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Vardhamāna Mahāvīra was the twenty fourth Tīrthaṅkara who flourished in the sixth century B.C. and propounded the Nirgranthaacelaka drama. Later the tradition was divided into two sects viz. Digambara and Śvetāmbara. Though both sects have their own account of division but the period is close to each other. It is silly and unfounded to propose that Śvetāmb ara sect belongs to Pārśva the twenty third Tīrthaṅkara.

Both sects and their accounts agree that the canons or the sacred lore was preserved through oral transmisson from preceptor to pupil and could not be preserved verbatim for a long time.

Since both sects have their common heritage it is but natural that hundreds of Prakrit gāthās, the doctrines, subject matter and even many details of general description are commonly found in the Prakrit works of both sects. It is quite consistent to the spirit of the tradition that both sects recorded the above heritage when the sacred lore was reduced to writing. As a matter of fact on the basis of similarity of common ideas, subject matter, description or even common pessages no work can be claimed earlier to other until and unless substantiated by other evidences.

The prakrit works of both sects are published and open to study. Early works of Digambara Sect so far came to light include the Kasāyapāhuḍa, the ṣaṭkhaṇḍāgama, the Mūlācāra, the Bhagavatī Ārādhanā, the Prākait Pāhuḍas of Kundakunda and some other works. According to the editors of these works they belong to 1st century A.D. or even earlier to it.

It is a recorded fact that the Digambara Sect rejected as original the canons and canonical literature shaped and reduced to writing at Valabhi in V. N. S. 980, 993.

No consolidated efforts have been made so far to study the common heritage preserved in the literature of both sects. Contrary to this voices have been raised against the early dates and descriptions of the ṣaṭkhaṇḍāgama, the Mūlācāra, the Bhagavatī Ārādhanā, the Prakrit works of Kundakunda and others. It is said that the common gāthās, the doctrinal details and much of the description found in these works have been borrowed from the said Śvetāmbara literature (vide intro, Pra, SP, Nyva etc.). When similar attitude is

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

adopted against Sanskrit works and authors like Samantabhadra and others the object becomes doubtful.

Dr. H.L. Jain, Dr. A. N. Upadhye, Pt. Kailash Chandra Shastri etc. had taken note of such expressions. And after thorough scrutiny found the same biased, prejudiced, reactionary and depending on very limited source of material They have recorded their analysis in the editorial of the second edition of the ṣaṭkhaṇḍāgama Vol. I, Introduction to Pravacanasāra, General editorial of the Śākaṭāyana vyākaraṇa and others.

This state of historical and objective study creates many difficulties for new scholors. As a result the studies have taken a dangerous turn.

Thus the designation of DJPL as Śaurasenī Āgama and Historical and objective studies of the same pose : several questions and essentially deserve to be answered. The questions stand as Yakṣa praśnas before scholars of Prakrits.

01. If the dialect (or dialects) used in DJPL is Śaurasenī–the dialect of Mathurā the Śūrasena, and Mathurā became the centre of Jainism after Magadha (vide NCS), how and when Śauresenī became the language of Jainism and reached to Magadha ?

02. When, where, from whom and how Bhadrabāhu inherited the Śaurasenī agamic lore which he took to Karnataka during the famine in Magadha (vide ANU, PS, NCS) ?

03. How and when Śaurasenī reached to Giranāra. Why Ashoka's inscriptions adopted Śaurasenī How and from whom Dharasena inherited Śaurasenī ṣaṭkhaṇḍāgama which he taught to Puṣpadanta and Bhūtabalī at Giranāra if Kāṭhiāvāḍa became the Jaina Centre in V. N. S. 683 (vide N. C. S.) ?

04. When and how Śaurasenī travelled from west to east-Kāṭhiāvāḍa to Kalinga and then south (vide N. C. S.) ?

05. Whether a single reference of 'Śaurasenī' as dialect is found in Digambara Jaina literature similar to Ardhamāgadhī in Ardhamāgadhī canon ?

06. Why the Sanskritist preferred to adopt and develop the

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Jaina Śaurasenī for Sanskrit Dramas knowing that it was the language of Jainism which rejected polished (Skt) language ?

07. If the authors of Śaurasenī Āgamas composed their works following the rules prescribed by the grammarians, how the Śaurasenī Āgamas could be claimed earlier to them ?

08. Is it proper to correct the ancient Prakrit texts–the so called Śaurasenī Āgamas according to the rules prescribed by the grammarians for Śaurasenī dialect of Sanskrit dramas, without applying the tools and methodology of critical editing ?

09. Whether the chronology of Śaurasenī Āgamas stands as proposed if examined in Historical linguistics ?

10. Whether the studies of Śaurasenī language by Western and Indian scholars have been taken into consideration while proposing the designation of Digambara Jaina Prakrit literature as 'Śaurasenī Āgama' ?

These are some of the questions which strike immediately if one sincerely goes through the hypothesis and views of scholars mentioned above. A number of cross questions could not be denied while attempting to find the answers of the above. It is now all open to the galaxy of scholars and pontiffs of Jainism assembled here.

To conclude, I may simply observe that these questions stand as Yakṣa Praśnas before scholars of Prakrits, and if not attended timely, dangerous consequences are obvious. If the Śaurasenī grammar is prescribed for the study of Digambara Jaina Prakrit Literature, and ancient Prakrit texts are corrected accordingly, the entire Prakrit works of the tradition will automatically be proved after one thousand years of Vardhamāna Mahāvīra. Then there remains no question of historical and objective study. Most of the present scholars are repeating the views expressed by one or the other earlier scholar. Even the studies already conducted are not consulted. The younger generation has advanced few steps further. A common practice is developing to snatch the matter from here and there and to make authoritative statements as their own research.

I earnestly request my younger friends to study the original texts with all sincerity, to make full use of earlier studies and to proceed with research aptitude, A vast field is open to them, and the

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

work alone is rewarded. Any side-tracking or haste to become Savvannu will not help. I also pray with folded hands to my elderly colleagues to guide younger generation in right direction and not to train in sectarianism and prejudiced studies. See the mirror, the yakṣa and the future of the tradition.

Abbreviations

D J P L	Digambara Jaina Prakrit Literature
Gr. Pr. Spr.	Grammatik der Prakrit–Sprachen
Bh. Dh.	Bhavisayattakahā of Dhanapāla
Intro. to PS	Introduction to Pravacanasāra
Intro. to Skh	Introduction to ṣaṭkhaṇḍāgama
Nyva	Nyāyāvatāra-vārtika-vritti
N C S	Nemi Chandra Shastri
PS	Pravacanasāra
PSI	Prakrit Sāhitya kā Itihāsa
PBSAI	Prakrit Bhāṣā aura Sāhitya kā Ālocanātmaka Itihāsa
SP	Snmatī-Prakaraṇa

For Details Please See

Pischel, R., Gr. Pr. Spr., p. 20

Bhandarkar, R. G., Report on search for Sanskrit MSS, 1883–84

Jacobi, Hermann, Bhavisattakaha von Dhanapala, pp. 81–89.

Denecke, Walter, Festgabe Hermann Jacobi Zum, 75, Bonn 1926.

Schubring, Walter, Lecture delivered at Delhi in 1928, vide 'Vir' Hindi Monthly, Vol. V.

Upadhye, A. N., Introduction to Pravacanasāra, 3rd edition, 1964.

Jain, J. C., Prakrit Sāhitya kā Itihāsa, second edition, 1985.

Shastri, N. C., Prakrit Bhāṣā aura Sāhitya kā Ālocanātmaka Itihāsa, Ist edition, 1966.

Jain, Gokul Chandra, A search for the tradition of Śaurasenī Prakrit Āgamas.

Kalyanavijaya, Muni, Śramaṇa Bhagavāna Mahāvīra, Jalore, 1941.

Sanghvi, Sukhlal, Introduction to Sanmati Prakaraṇa, Ahmedabad, 1963.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Malvaṇia, D. D., Introduction to Nyāyāvatāra-vārtika-vritti.

Muni, Punyavijaya, Introduction to Pannavanā sutta, 1969–72.

Upadhye, A. N., Jain, H. L., Editorial to ṣaṭkhaṇḍāgama, Vol. I., IInd Ed. 1973.

Upadhye, A. N., General editorial to Sākaṭāyana vyākaraṇa.

Head of the Department of
Prakrit and Jainagama
Sanskrit University, Varanasi

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Evolution theory of Kundakunda

Devendra Kumar Jain

Before introducing the Evolution Theory of Kundakunda, I wish to discuss the western and Indian views on the subject.

Western Views of Evolution

Now-a-days, subjects related to Philosophy, are widely discussed in the vanguard of scientific progress. As a result, several theories have been profounded by various scientist-cum-philosophers regarding 'Evolution'. I feel constrained to call them scientist-cum-philosophers because of their approaches which are partly scientific and partly philosophical.

The theory of evolution explains sequence and purpose of all existences including matter with recourse to their present, past and future.

Broadly, we can sum up all the theories in two categories : 1. Creation : (i) Absolute creation (ii) Conditional creation.

2. Evolution : (I) Mechanical Evolution :-(Promulgators)

    a. Herbert Spencer
    b. Charles Darwin
    c. Lamarck
    d. Weismann

  (II) Teleological Evolution :

    a. Transcendent Theory
    b. Immanent (internal) Theories of Hegel and John Caird.

There are some theories which can be termed as composite of both (creatian and evolution) :

a. Creative Evolution of Henary Bergson
b. Emergent Evolution of Loyd Morgan and Samuel Alexander
c. Organism, creationism, Naturalism etc.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Briefs of different Theories :-

1. Absolute Creation :-God, being, perfect being, created the world out of nothing by mere fiat of will. 'Let there be world, and here was a world.'

2. Conditional Creation :-In slight variation from the above, according to this theory. 'God created the world out of pre-existing matter. He is like en architect who manufactured the world from the primitive matter. matter and God are co-eternal,the primordial matter was in a chaotic state; God produced this cosmos out of that Chaos.'

Evolution :-

Evolution is a gradual process of change from simpler to complex, from chaotic to systematic, from homogeneous to a heterogeneous state, and from an indefinite to definite. Similarly dissolution is at a transition from Cosmos to a Chaos.

Evolution, according to Conger, implies four fundamental notions (i) change in time (ii) serial order (iii) inherent causes (iv) creative synthesis,

1. Mechanical Theory of Herbert Spencer :

Evalution is an integration of matter and concomitant dissipation during which matter passes from an indefinite incorrect homogeneity to a definite coherent heterogeneity and during which the retained motion undergoes a parallel transformation.,

The theory advocates the origin of life from lifeless matter (abiogenesis doctrin or spontaneous generation of life from matter) and gives more emphasis on environmental conditions.

2: The Theory of Charles Darwin :

Charles Darwin's Theory is mainly based on biological experiments. His theory implies that :

(i) Spontaneous, fortuitous (accidental) variations are constantly going on within the body-cells (proto-plasmic) which cause variations in the mature organisms.

(ii) These spontaneous variations in the body-cells are transmitted to the posterity by heredity.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(iii) In the struggle for existence (because of these variations are either favourable or detrimental to the creatures) the nature selects fittest creatures or strongest will survive.

(iv) Organs precede functions.

This theory is based on three assumptions ie. struggle for existence, heredity and spontaneous variations. The role of the Nature is supposed by Darwin as of Intellectual. Similarly in Creation-Theories, the task of God is arbitratory and superflous.

3. Lamarck's Theory :

(i) Lamarck Maintains that variations are not accidentnl but they are due to the environment.

(ii) Due to the environmental forces, (external forces like light, sound heat and pressure), organism react to satisfy organic needs.

(iii) The organic-needs evolve different sense-organs. So in contrary to Darwin here, functions precede organs.

(iv) The organs are strengthened by continous use and weaken by continuous disuse.

(v) These accquired modifications are transmitted by inheritance (heredity) from generation to generation.

As is experienced by us that desire alone can not evolve sense-organs just as flying desire could not evolve flying-wings in human beings till now. The transmission of accquired modifications is itself a spontaneous idea proposed by Lamarck to complete the mechanical process of his Theory. If environment is forcefull enough to modify structures of creatures absolutely, then,according to his principle, all the creatures should not have tails as per their use-disuse concept. Why environment is partial to species to species ?

Both the theories try to explain the Nature or environmental evolution without considering the nature of life. Therefore; 'Their Mechanical theories (Spencer. Darwin and Lamarck) can not explain the order, unity, and harmony of the world, adaptation of the living organism to the material environment and evolution of the plant and animal species.'

Teleological Evolution

Teleological Evolution (popularly known as 'means-and relationship') -considers the evolution as purposive not merely mechanical causation.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

We experince the order, unity, harmony and interrelation in the whole universe, which can not be an accidental one. Definitely it must be due to an infinite intelligence or cosmic-mind immanent in the world.

Teleology maintains the determination of the events by the future while, Mechanism (cause-effect theory) hold the *determination* of the present events by the past.

Like creation, here also God is accepted as immanent essence of the world. Thus on one side, the Immanent Finality recognise the event as determined by both cause and purpose on otherside, it regrds the world as manifestation of God, who evolves the world from within. Both the statements are contradictory and therefore, absurd. If the world is not the necessity of God, then, no God is necessitated in order to evolve the world. If the world is a necessity of God, then the God is a limited or imperfect presonality engaged in fortifying his necessities-

Creative Evolution

The chief advocate of the theory, Bergson, holds that :

1. The reality is dynamic.

2. Change is not a re-arrangement of parts but a transformation of the existing parts into real novelty.

3. The world is absolutely undetermined.

4. Cosmic-evolution is a ceaseless advance towards new creations.

5. 'Elan Vital' or the vital urge evolves new entities out of the past.

6. God is creative life. God is ever-expanding, ever-creative surge of life.

Ever-creativity is an fanciful idea which is quite inconsistent with our experience. Now-a-days, several cases of re-birth are wittnessed by us challenging all the materialistic conclusions of Science and materialism. Therefore, change without permanent and permanent without change both are absurd statements, far from the reality. In the midst of evolution and dissolution of a substance, something must be permanent to recognise these modifications and establish its entity.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Emergent Evolution

This theory holds :

(i) Life is an emergent of matter.

(ii) Mind is an emergent of life.

(iii) Evolution is a series of stages.

(iv) Activity, mind or God is the root cause of emergent evolution.

Main advocates of his theory are Lloyd Morgan and Samuel Alexander. This theory is also subject to the same criticism as to the creation and evolution theories.

Evolution in Indian Philosophy

Let us have the views of Indian Systems.

1. Buddhism

The concept of continual transmigration (In west, Bergson, profounds this type of ever-creative nature of Evolution) is endorsed with the causation theory. Everything is due to cause and reason. Every change is determined by a num ber of conditions. The cause of any change is totality of all the conditions needed for its occurance. While rejecting the autonomous existence of a thing, they contend that 'everything depends on another and this other thing on which it depends is itself dependent.' According to their famous principle 'Pratitya-samutpāda' (the chain of causation) a fruit does not originate of itself; nor is it made by another; it originates in virtue of a cause; it ceases on the cassation of the cause. There can be no first cause. Thus this world-process (Saṁsāra) is without beginning and end.

2. The Cārvāka

The Cārvāka maintains consciousness is a by-product of matter and endorses the mechanical view of Evolution.

3, Sāṁkhya System

The system explans the process of evolution through two eternal entities i. e. 'Purusha' and 'Prakriti'. The Evolution of the world starts with the contact of 'Prakriti' and 'Purusha'. This relation disturbs the equilibrium of three 'gunas' of 'Prakriti' and a chain of procees thus follows as :

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Contact of Prakriti with 'Purusha' 'Mahat' or Buddhī'

'Ahaṁkāra' or ego

- Vaikarika Sattvika
  - Eleven organs
    - Five organs of perception (Jnānendriya)
    - Five organs of actions (Karmendriya)
    - Mind
- rajasa
- Tamasa
  - Five Tanmātras (subtle elements)
    - Five Mahābhūtas

Therefore, the ultimate cause of Evolution is the eternal, ever-chaning, blind, intelligent 'Prakriti' or Matter. The 'Purusha' is intelligent, inactive and unchanged, and includes pluraly of selves.

4. The Yoga System

The system maintains Evoluion in the same manner as 'Sāṁkhya' except in assuming a God or Supreme-being or 'Adrastra' to co-ordinate 'Purusha' and 'Prakrati' in order to evolve the world.

5. The 'Nyāya' and 'Vaisesika' Systems

These systems enumerate as follows :

(i) The eternal constituents of the Universe, are four kinds of atoms (earth, water, fire and air) and the five substances ('ākāsa', space, time, mind and soul)

(ii) Only non-eternal parts of the Universe are subject to origin and destruction in time.

(iii) All the objects of physical world are composed these four kinds of atoms.

(iv) The creation and destruction of non-eternal objects is at the discreation or will of 'Supreme-Lord'.

(v) Every creation precedes a destruction and this forms a beginningless series.

(vi) 'When God thus wills to create a world, the unseen forces of moral deserts in the eternal individual souls, begin to function in the direction of creation and the active life of experiences.' (Introduction to Philosophy Page 245).

(vii) Physical dis-integration of four types of atoms is termed as destruction of physical world.............................Cont. to next Vol.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Weights and Measures in Jain canons [a] Mass and Volumes

N. L. Jain

Jainological texts belong to two categories : (a) purely religious like Acharanga, Dashvaikalik, Kundkund literature and others and (b) semi-religious represented by Umaswati, Aryrakshit, Bhagwati and others. It can be easily surmised that the second category must have developed later than the first one when sufficient knowledge about physical world and its events and the concept of religion involving all aspects of life from birth to death must have developed to such an extent as to be communicated to common man. This knowledge is sensory in the first instant which is analysed by mind to give it a proper form. Barring superasensory knowledge, all other forms are primarily relative and qualitative. This has to be exposed in a reliable and accurate form. And what else could be most credible and reliable method than the mathematical or the quantitative representat ion. This could be done only when there is a firm basis of standardied units of weight, lenght and time without which no worldly account may be possible. The Jain scholars realised this fact and that is why they have written about it in many general and later spacial treatises during different periods. It is in somewhat later periods that the quantitative nature of many descriptions got diversified. Nevertheless, the jainas seem to be quite finely advanced when they consider the numbers to the tune of 10-10-10-250 as normal and put up the idea of numerables, innumerables and infinites in respect of descrip tions about universe and related phenomena.

Concept of measurement in Jain canons and procanons

The Jaina description on measures date back from many centuries of pre-christian and post-Christian era. On closely going through them, one finds two traditions developing per chance sids by side with a large amount of diversity in quantitative values in the units and their current equivalents. This is the case with almost all types of measures barring basic fundamental or space point values. Quite

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

a good number of values seem to be mythological rather than scientifically logical. They represent the changing concepts and ideas in different ages when standardisation was not the practice. Despite the fact of scholars maintaining the origin of decimal system and 10g. to the base two in the east, no attempt seems to be there to adopt it in different measure systems. The author wishes to attempt to collect and present them to suggest modestly the need for their uniformity and standardisation so that the descriptions based on them may be made coherent, consistent and better credible.

Jaina canons have coined the term Pramana (ADS)[1] and Mana (RV)[2] for the process of measurement of length, time, weights and volumes. They are contained in Bhagwati[3] (B), Jnatadharmkatha[4] (GK), Sthananga[5] (Sth)., Anuyogdvarsutra (ADS), Rajvartik (RV), Triloksara[6] (TS), Dhavla-1[7] (D), Tandulveyaliya[8] (TV), Trilok Prajnapti (TP), Jambudvip prajnapti (JP) and in some other canons as shown in Table 1. Antkritdasha[9] mentions about iron hammer of 1000 palas and Upasakdasha[10] tells us about donations of a king limited to two Dronal measures and Karshapan value of medicated oils. Time measures have also been mentioned in different canons.[11]

Table I. Measures in Different Sources (Jain)

No.	Source		Names 1	2	3	4	5	6
1.	Bhagwati	3	Mann	Unmaan	Praman	–	–	–
2.	GK	4	Meya	Dharim	Parichchhedy		Ganim	–
3.	Sthananga	4	Maan	Unmaan	Praman	–	–	Avmaan
4.	ADS (Mass)	5	Maan	Unmaan	Pratimaan–		Ganim	Avmaan
5.	Rajvartik (wordly)	6	Maan	Unmnan	Pratimaan	Tatpraman	ganana	Avmaan
6.	Triloksara	6	As in 5					
B.	Second Set of varieties of Measures							
7.	Sthananga	4	Matter/mass,	Length &	Area,	Time,	Abstract Quality	
8.	ADS, RV, D	4	As in 7					
9.	Dhavla-1	6	4 as in 7, Namal, Representational (not actually measures)					
10.	Dhavla-1	5	4 as in 7, Standpoint					

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Sthananga also mentions units of 'Bhar' and 'Kumbh' for gems. However, it is observed that there are many more descriptions about time and length units in comparision to weights and volumes. It is also seen from Table 1 that RV and TS follow a different way of classification of measures from the other canons. This seems to be a later development. Despite the fact that there is not much difference between units of weights and measures, these sources classify them on the basis of wordly and parawordly varieties. The first variety is mainly concerned with weight, volume, cost, numaration and has six classes instead of five of ADS where these are included in measures of mass (Dravymaan) only. Though ADS and RV seem to include length measure through the variety of 'Avmaan', the TS has described it as a measure of volumes. This seems to be more reasonable in view of coherence.

A second difference is also discernible concerning the nature of units of different measures. There are actually two types of units–(a) Fundamental (atom or spacepoint based) and (b). derived or division based. The ADS has both types of units while RV and TS have this case for length units only. These units are meant for visible or tangible mass.

Thirdly, in contrast with ADS, RV and TS do not include time units in their worldly measures which ADS and D have in their general measures. There is also a differeace between mass and abstract measures in these texts.

Fourthly, Dhavla-1 has added one more dimension to the fourfold base in set B. It has added the Standpoint measure (Naya Pramana) also to the list which may a form of abstract measure as in ADS[12]

If one looks at the definitions of different measures of Table 1 as given in Table 2, one finds that there have been three measure areas of measurements during the canonical/post-canonical periods (if one excludes the abstract measures of ADS and RV) : (i) Mass and volume (ii) Length, distance, area and volume (iii) Time in contrast, the Intl. Congress on Weights and Measures, 1971[13] has accepted seven areas under this category as shown in Table 3 with their measure units. It could be surmised that the last four categeries could not develop durind canonical times. Of course, one finds mention of heat

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Table II. Useful Information about Different Measures, Matter Measure, Drdvyamaan (ADS) or Worldly Measures (RV)

No.	Name	Definition	Units	Uses
Set A.				
1.	Pratimaan	Model/standard/smaller weight measures	Gunja, Suvarn etc.	Weight of precious materials
2.	Maan	Volume measures of solids and liquids	Gunja, masha, prasth Shodashika etc.	Volume measures
3.	Avmaan	Small Volume measures	,, ,,	Water in handcup (R)
4.	Unmaan	Weight measures by balance	pal. tula etc.	wt. sugar etc.
5.	Ganana Maan	Countable measures	1, 2, 3, etc.	wages, coins
6.	Tat-pramaan	Comparative valuation	—	halo, yelloness, jumping
Set B.				
1.	Dravyamaan (Abstract measure in ADS)	Matter/Volume measure Number/simile measures	finite/infinite numbers	Age of living beings
2.	Kshetramaan	Length, area, Volume measures	Angula etc.	Hieghts & distances
3.	Kaal Maan	Time measure	Samay, Avali etc.	Time/duration
4.	Bhaavmaan	Abstract measure of qualities, standpoints & numbers (counting)	—	Measures/counts/intensity

Ac. Gunratnasuri MS
Jin Gun Aradhak Trust

(Taap), light (Prakassh) and vidyut (Electricity) in canons in their various aspects.

Table III. Canonical and Currents/Measure Systems

No.	Measure	Canonical names	Canonical units	Sc. units
1.	Mass/Matter	Dravymaan	Practical atom, Karsh, pala, tula etc.	mg, g., kg.
2.	Distance	Kshetramaan	Spacepoint, Angul	mm ,cm.,m
3.	Time	Kalmaan	Samay,Avali,Prana	Second
4.	Electricity	–	–	Ampere, Volt
5.	Heat	–	–	Calorie,kelvin
6.	Light	–	–	Candela, Lux
7.	Matter	–	–	Mole
8.	Abstarct Quality* (not approved by ICWM) : no units in canons too.			

Table 3 suggests that the current age has added four additional measures in current age. How important they are–is everybody's guess.

Measurement Units of Weights and Volumes of mass/matter

The Mass or Dravyamaan measure gives us weight and volume of solids and liquids from the smallest atom to the largest earth. Akalanka presumes this measure as paraworldly also thouth his worldly measures include the ADS varieties. The paraworldly classification of this measure is also different in RV though the definition is the same. This nature seems to be Akalanka's own creation who has many such credits. We will overlook this classification as it seems to be other form of number measure.

Stāry references to specific weights and volume measures are found in many canons. But the first systematic treatment is given only in ADS. It has given first five types of matter measures as in Table 1. One could see that they could be reduced to three only as no weighting (Unmaan) could be done without standard or model weights (Pratimaan) and hence the two should form one category. The volume measures have also a similar case. There should also be 'Pratimaans'. Secondly, 'Avmaan' measure may be included in 'maan'–a volume

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

measure for liquids and sometimes solids too, as it should represent smaller volume measures according to TS. The addition of comparative cost measure of Tat-pramaan by Akalanka seems to be highly empirical for which no units are prescribed in RV. That is why it dose not find place in ADS. Hence the fifth measure of number is there. Without it, any unit could have no meaning. All these are described below.

It is learnt from canonical stories that not only solids and liquids, but coins were also measured through bronze vases or post of specific size which actually meassured volumes rather than weights. This practice was still prevalent in rural India by rich people there. It seems easier and less time taking than counting in numbers.

The canons tell us that there were different types of measures for solids and liquids of different types. Precious metal measure were still different from and smaller than general measures. The volume measures are termed as 'Maan' or 'Meya'.

It is also pointed out there were two prominent types of such measures in early periods : (i) Magadhan messures and (ii) Kalingan measures. The first ones were more popular and jaina canons have mostly followed them. The kalingan measures were somewhat smaller in values for their unit of Karsha, K (=1 tolaa= .83 of Magadhan value) in the end. These measures are found in Ayurvedic texts also.[14] Bagbhata co-ordinated these measures later but canons have only Magadhan measures.

A. Volume measures : Maan and Avmaan

The measures of Maan and Avmaan seem to be most important in canonical periods. Both of them measure volumes. However, volumes and weights have been related at some stage so that one could express one measure into another without involving the concept of density.

The ADS describes 'Maan' into two classes : (i) Grains measure or measure of solids and (ii) measure of liquids or Rasas. It is said that tip of the grains measure is pointed upwards while it is pointed downwards in case of liquids. This is an observation pointing out the quality of surface tension in liquids indirectly.[15]

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Table IV. Mass or Volume measure of Solid Substances**

Magadhan Measures	Kalingan M.	Bagbhat	ADS	RV	TV	RS
1. 30 Atoms=1 Trasrenu, T	T	6 Atoms=1T	—	—	—	—
2. 6 T=Marichi, Mi	Mi	—	—	—	—	—
3. 6 Mi=Rai, R	R	—	—	—	—	—
4. 3 R=1 Sarshap, S	S	1296=1 S	—	—	—	—
5. 8 S=1 Yava, Y	—	6 S=1 Y	—	—	—	6 S=1 Y
6. 4 Y=1 Gunja, G	—	6 Y=1 G	—	—	—	6 Y=1 G
7. 6 G=1 Masha, M	—	6 G=1 M	—	2 G=1 WM;	5G=M;	6 G=1 M
8. 192 S=1 M	1 M;	216 S=1 M	—	16WM=1Dharan	—	12M=1 T
9. 4 M=1 Shan, Sh	1 Sh	4 M=1 Nishk, N	—	2.5 DH=1 SM	—	4 T= 1 P
10. 16 M=1 Karsh, K	10 M=1 K;	84 N=16M=K	--	—	16M=K	—
11. 4 K=1 Pala, P	P	P	—	4 SK=1 P	4 K=P	—
12. 4 P=1 Kudav, Kd	Kd	Kd : 4 Asati,P =1 Setika,Se	—	—	4 P=1 Se	—
13. —	—	—	4 Se=1Kd:	3.12P=1 Kd:	4Se=Kd	—
14. 4 Kd=1 Prasth, pr	Pr	Pr	Pr	Pr	12.5=1 Pr	—
15. 4 Pr=1 Adhak, A	A	A	A	A	A	A
16. 4 A=1 Drona, D	D	D	D	D	—	—
17. 4 D=1 Droni, Dr	—	—	—	—	—	—
18. 4 Dr=16D=1 Khari,Kh	Kh	—	—	Kh	—	—
19. 100 P=1 Tula, T	T	T	—	T	—	—

Ac. Gunratnasuri MS
Jin Gun Aradhak Trust

20.	2000 P=1 Bhar, B	B	4000P=B	—	—	—	—
21	—	—	—	100A=L Kumbh,Kd		—	—
22.	—	—	—	800A=1V:	V:20Kh=1V:	800A=1 V	—
23.	—	—	—	—	—	22.5V=576Q	—

** Q=Quintal, 100 Kg : Kh (in RV)=320 D=1280 A=22.5 V=1 yr. food (TV). Some intermediate steps have been ommitted in this Table. Where there is one symbol of measure only, it should be taken as equal to the base in front.

** RS=Ratnasamuchchaya

Table V. Values of same-named Measures in Different Sources

No.	Unit	Equivalents in Magadh	Kaling	ADS	RV	TV	RS	Most probable current value
1.	Karsha, K	16M, 96G	10M, 80G	-	160M, 80G	16M, 80G,	72 G	11.6 g
2.	Pala, P	384 G	320 G	-	320 G	320 G	288 G	46.40 g
3.	Masha, M	6 G	8 G	-	-	5 G	6 G	1.44 g
4,	Kudav, Kd	4 P	4 P	16 P	3. 2 P	16 P	-	185.60 g
5.	Prastha, Pr	16 p	16 p	64 p	12.5 p	12.5 p	-	0.80 kg
6.	Adhak, A	64 p	64 p	256 p	50 p	50. p	-	3.20 kg
7.	Khari, Kh	4096 p	3200 p	-	3200 p	-	-	-
8.	Vah, V	-	-	800 A	1280 A	800 A	-	2.6

Ac. Gunratnasuri MS
Jin Gun Aradhak Trust

Grains measure :

The first unit of grains measure is 'Asati'-an equivalent of 'Pala' unit of magadhan system according to Apte[16] Table 4 gives comparative details of solid measures in different systems and texts. However, Table 5 indicates that though these measures follow basically Magadhan system, the quantitative nature of practical units seems to be different in many sets. The ADS values are highest and nearly double the magadhan ones and RV values are smallest in comparison. They are dependant on the relation between 'Pala' and 'Kudav' units which are varying in different systems. The TV has given two types of units-one the same as ADS and the other one as different from ADS. One of the two seems to be an interpolation as it does not seem to be coherent when the value of 'Prastha' is calculated. It turns out to be 12.5 p and 64 p (pala) respectively. This non-coherence requires clarification from the canonists.

As far as the current litereture goes, no author seems to have made out this disturbing point for the advancing knowledge. For Sadhvi Divyaprabha refers to Samhita for another unit equations as given below :

(i) 10 M (masha)	= 1 K (Karsha)	= 14.4 g.		
(ii) 2 K	= 1 P (Pala)	= 4 tola	= 46.4 g.	
(iii) 1000P	= Demonic iron hammer		= 46.4 kg.	

This is in contrast with 4K=1 p. This will give half the valu e for pala unit, (Table IV).

Liquid measures : Rasamaan

The canons begin their liquid measures with units larger by four times than solid measures. The first unit is based on 'pala' unit and is equal to four palas named as 64-fold measure(Chatus-shastika). Its last unit is 'Maani' which is equal to 256 palas. Table 6 gives details of its seven units which have twice as much value as the preceding one on direct order. Similarly, the preceding ones have half the value when taken in reverse order. These volume measures make it important to learn the value of 'Pala'unit in terms of weight units. These are described under 'Unmaan and pratimaan'. Rajvaratik defines the liquid measures with example of 'Shodashika etc without much details indicating it follows the tradition. However if 'pala' is taken as equal to 46.40 g., the 'Maani' unit of volume will weight about

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Table VI. Canonical Liquid Measures

No.	Canonical name	Unit	Value		Relation	Current Value
1.	Chatus-shastika	4 palas	64-fold	measure	C	46.40 ml.
2.	Dwatrinshika	8 palas	32-fold	,,	twice	92.80 ml
3.	Shodashika	16 palas	16-fold	,,	,,	185 60 ml
4.	Ashtbhagika	32 palas	8-fold	,,	,.	371.20 ml
5.	Chatur-bhagika	64 palas	4-fold	,,	,,	742.40 ml
6.	Ardha Maani	128 palas	2-fold	,,	,,	1484 80 ml
7.	Maani	256 palas	Maani	,,	,,	2969.60 ml

3 kg. This seems to be too small a measure for volume specially in comparision of today's water tanks and industrial tanks.

It may be added here that we have taken 'Avmaan' as liquid measure in view of TS and no units for it are given there. But as 'Pratimaan' has been defined as weight measure for small amounts of precious metals and materials, Avmaan could also be taken as liquid measure o. smaller amounts/volumes like mercury or medicated-oils etc. where smaller volumes are to measured off and on. Its value must be smaller than 64-fold measure. This will measure smaller volumes than the smallest for 'Maan' measure.

B. Unmaan and Pratimaan (Model) Measures of Weights

As today, there were any materials in olden days which were sold or used by weights. The 'Maan' and 'Pratimaan' measure refer to these weights. They were estimated with the help of balance on the basis of standerd or model weights. Medicines, sugar, jaggery, candy, precious metals and the like have been weightable materials. They could be in gross and fine forms. The units used in case of weight measures start with Half-Karsha and end in 'Bhar' units. The total number of weight units are eight shown in Table VII. Here also, each following units is twice the preceding units up to 'pala' unit. There is difference of opinion about the value of 'Tula' units in terms of 'Pala' units the two values differ roughly by a factor of five.

However, Magadhan measure in RV has this unit equal to 100 Palas which is supported by Ayurvedic texts. This should be taken

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Table VII. Units of weights in ADS (Pratimaan, Model)

No.	Units	Fquivalence	Current Values
1,	Ardh-Krasha/Half-Karsh, HK	-	5·8 g.
2.	Karsha, K	2 HK	11.6 g.
3.	Ardha-Pala/Half-Pala, HP	2 K	23.2 g.
4,	Pala, P	2 HP	46.4 g,
5.	Ardha-Tula/Half Tula, HT	-	-
6.	Tula, T	105 p, 500 p, 100 p	4872.00 g.
7.	Ardha-Bhar/Half-Bhar, HB	10 T	48720.00 g.
8.	Bhar, B	2 HB=20 T	97,440 g.= 97.44 kg

as reasonable in comparision to higher value. Akalanka's volume measures may be equated to weight measures on this basis. Thus, with a Karsha of 11.6 g , one starts with a minimum of 5.8 g. and ends at 97.44 (roughly a quintal of today). Modern weight units starts with about 580 times lesser weight (mg.) and ends with ten times larger weight (1000 kg=1 ton) on the other side.

The standard weights or Pratimaan are said to be smaller ones to be used for weighting valuables like gold, silver, gems, pearls etc. These weights start with smaller units of Gunja, G (or Ratti) and end in Suvarn (gold coin or Sonaiya). They are given in Table VIII as per ADS. Gunja becomes the base here. 96 G has been taken to be equal to one gold coin prior to decimalisation of weights in India. Now, one gold coin is equal to one 'tola' or roughly 11.6 g. hence one unit G=11.6/96=0.121 g. On the basis of this G value, one can

Table VIII. Pratimaan Weights in ADS

No.	Units	Equivalence	Current Value
1.	Gunja, G	6 x	0.121 g.
2.	Kakini, KK	1.25 G	0.151 g.
3.	Nishpava, Np	1.33 KK	00.200 g.
4.	Karm-mashak, KM	3 NP=4KK=5 G	00.605 g.
5.	Mandalak, MD	12 KM=48 KK	7.260 g,
6.	Suvarn, S (gold coin)	16 KM=64 KK	9.68 g.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

find out the current equivalent of different canonical weights, However, it seems difficult to do so in view of Table 5 where 'tulaa' unit varies between 72-96G. One has therefore to refer to some most common values given in literature and overlook others. For example, if G is taken as 0.121 g., the Suvarn coin will have a value of 9.68 g. which is sufficiently less than the weight of standard 'tolaa' (11.6 g) of today. This discrepancy has arisen as the value of karshmashak, KM is only 5 G rather than 6 G as in Table 4. Thus, these standard weights are discordant with earlier units. It should also be 'Shatgunjas' in place of 'Panchgunjas' ADS [17] This is a case of intra-canonical contradictions in canonlike books for which many examples have been cited by Shastri.

It is, thus seen that the weight and volume units mentioned in Jaina text are smaller in value than the normal Magadhan values. They could have been based on 96G=1K in place of 80 G=1K so that proper comparision could be made and better results may accrue.

Secondly, it is observed that the jainacharyas have not used their extraordinary interpolation and extrapolation technic towards infinity on both-minimum and maximum sides of weight units as they have done in case of lenght and time units.[18] The canonists are the only ones autherised to explain this treatment towards units of mass and volumes.

On current reckoning, the canonical weight units seem to be sufficiently gross as they start with 0.121 or 5.8 g in comparision to 0.001 g. in each case. They also do not have much on the maximum side too. Moreover, the term 'Dravyaman' should be defined in terms of weight rather then 'mass' as there is now a clear difference between the two terms. However, one may overlook the tendency of using differeterms for the various units in different books or commentaries though this fact also creates trouble for comparative studies which aim at simplifying and unifying the matters. Jain has given such a list in his book in this regard.[19]

Number or Numberable/Countable Measure

In olden days, fruits, vegetables and many other articles were sold by counts. This system still persists in an appreciable way in rural areas and partly in urban markets. However, it is being replaced by weight measures. Besides every measure requires number

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

as its base. Hence, number has been taken as a measure on the basis of cause-effect rule. This is an advance over Bhagwati and Sthananga by ADS/RV. The number measure thus serves two-fold purpose. ADS[20] has mentioned this measure to be useful for paying wages to workers. purchasing foods and utilising proper amount of coins and accountings. It goes to count the numbers up to ten million. However it takes the number measure as a variety of abstract measure which could be expressed in eight ways out of which countable number is most useful as Munishri also makes out.[21] Primarily, Akalanka mentions numbers up to four followed by the term etc. However, he mentions numeration under his paraworldy measures where the definitions of types of numerations as different from ADS.[22]

Tat-Pramana Measures

This measure is mentioned only in Digambara texts. No units are given there for this measure. It seems to be a measure by comparision. It is quite empirical. Though it may not have quantitative aspect, but it must have a highly quality aspect. The judgement about the quality of gold, diamonds and even animals like horses etc. are experiencial measures which are even used today. Of course, these qualities of materials are visible like the yellowness on the touchstone by rubbing (of gold), lustre (of diamonds and gems) and high jumping (of horses) etc.[२] However, some units like carats ete could be found in current sciences under this category.

Current Measures

Looking to the variety of measures in different part of India, the British tried to have uniform measures of weights overlooking the earlier ones. In the first instance, they were not based on decimal system but they represented a co-ordination. Later on all weights and

Table IX. Current Units of Weights and Volumes

(a) British Period	(b) Scientific Units	(i) Lenght	(ii) Vol.
8G=1N	Basic Weight Unit 1 mg	1 mm	1 ml
96G=12M=1 Tolaa	1000 units 1 G	1 m	1 l
5 Tolaa=1 Chhatak, CH	1000 units 1 kg	1 km	1 kl
16 CH=1 Secr, Se			
40 Se=1 maund, Kn			

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

measures have been converted to decimal system and made prevalent throughout the country Table IX summarises them and their details could be found in any physics book. The CGS system is most current today.[18]

With these new units in vague, the canonical units have gone historical. Thus, the weights and measures have undergone change from irregular multiplest to regularly decimalised. They have also changed from mixed nature to an identifiable nature.

References

1. Arya rakashit: Anuyogdvar Sutra, Agam Prakashan Samiti, Beawar, 1987, p. 227, 231,234 etc.
2. Akalanka, Bhatta; Rajvartik-1, Bhartiy Jnanpith, Delhi, 1953 p. 205-8
3. Sudharma swami; Bhagwati Sutra, JS Sangh, Sailana. 1988 p. 1945
4. idid, Jnatadharmkatha, APS, Beawar, 1981, p 384
5, ibid, Sthananga, Jain Vishv Bharti, Ladnun, 1976 p. 863, 887, 100, 324
6. Chakravarti, Nemchand; Triloksara, Dig. Jain sansthan, Mahavirji, 1972 p. 12.
7. Pushpdant & Bhutbali Sat-knandagam-1, JSS Sangh, Sholapur, 1985 p. 81.
8. Tandulveyaliy, S S Jain Sanstha, Bikaner, 1949 p. 45-6
9. Sudharam Swami; Antkritdasha, APS Beawar, 1981 p. 113.
10. ibid; Upasakdasha, ibid, 1980 p. 31, 174
11. ibid; Bhagwati Sutra, JS Sangh, Sailana, 1968-70 p. 767, 1033, 3332.
12. See ref. 1 p 357.
13. Tarnikar, M. S. et el; Prarambhik Bhautiki, J. Nath & Co. Meerut, 1989 p. 95.
14. Dwivedi, Vishwanath; Bharity Rasashastra, Sharma Ayurved Bhavan, Jhansi, 1977 p. 103-6
15. See ref. 1 p. 234
16. Apte, V. S.; Sanskrit English Dictionary, MLBD, Delhi, 1986 p. 272.
17. See ref. 1 p; 235.
18. Jain, N. L.; Aspects of Jainology, Vol. 2, PVRI, Varanasi, 1987 p. 104 (Eng.)
19. N. L. Jain; Scientific Contents in Prakrit Canons (in press)
20. See ref. 1 p. 239
21. Muni, Mahendrakumar, Vishwa Prahelika Javeri Prakashan, Bombay, 1969 p. 255
22. See ref. 1 p. 397, 404

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Pandit Jaganmohan Lal Shastri
–A Tribute

S. K. Jain

In the year 1989, Pt. Jagnmohan lalji Shastri became eighty eight years old. His immence services to the Jain Samaja and to the cause of education will ever be remembered with gratitude. In the year 1990 he was honoured at a largly attended function held at Satna. Large number of his Students and associates and leaders of the Jain Samaj attended the function. A felicitation volume of book was presented to him on the occasion.

Sri Gokul Prasad was his father. He was a very religious person and he put his son in the charge of Sri Ratna Chand jee of Katni.

Later his father established an Ashram at Kundalpur and this Ashram is running successfully even today. Pt. Jaganmohan lal ji Shastri is now spending his retired life in this Ashram. The peculiarity of this Ashram is that who ever comes to live here after retirement to lead a religious life has to meet all his expenses and that is why every body living here/lives with dignity and peace.

Pt. jee was born at Sahdol in Vikram Samvat 1958. He started his education at Katni and was admitted to the Mathura Pathshala at the age of eleven from where he returned to Katni after 8 months and continued his education in the Jain Pathshals. At fifteen he was admitted in Morena Vidyalay where he learnt for three years. There after he went to Benaras for three years. In the year 1920 he along with Pt. Kailash Chand jee Shastri joined the famous non co-operation movement of Mahatma Gandhi, and they abstained from appearing in any Govt. Controlled University examination. There after both of them went to Morena and completed the highest course of Sidhant.

Later he was appointed by Babu Sumati Lai jee, Secretary of Syadwad Mahavidyalay Kashi as a professor of Jain religion in the Vidyalay but Sri Ratna Chand jee advised him to remain at Katni

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Vidyalay which he humbly accepted. He however persueded his friend Pt. Kailash Chand jee Shastri to join Syadwad Mahavıdyalay Kashi as Prefessor of Jain Religion. There after Pt. Kailash Chand jee remained at Kashi Syadwad Vidyalay as Prefesser, Principal and lastly as Adhisthata will ever be remembered with gratitude by the entire Samaj and by the Vidayalay Prabandhkarni Samiti (Managing body)

Pt. Jaganmohan lal jee was married in the year 1922 and completed his education in 1923. He tried to introduce at Katni Vidyalay vocational classes in various handicrafts in the year 1925 to make the students independant in their carrier by earning their own livelihood but the Scheme did not succeed. It was the First experement of its kind in a Sanskrit Vidayalay. After the failure of this scheme he got started the teaching of Ayurved and arranged for Scholarships to students. Students who joined this courss met with success with the practical education given to them by pt. Kanhaiya lal jee Vaidya at Kanpur and Sri Babu lal jee Raja-Vaidya at Calcutta.

In 1925 Pt. ji became an active Congress member and attended the Congress Session at Kanpur as Official representative in 1926. He arranged financial help to the families of those whose members had gone to jail· Later he also used to publish News bulletins on behalf of the local Congreass Committee.

In 1927 he came in close contact with Pujya Acharya Sri Shanti Sagar jee Maharaj at Kanti which had lasting influence on his life. Later he got a hostel constracted at Kanti after obtaining help from Sri Heeralal Kanyalal jee of Mirjapur. Pt. Kailash Chand jee Shastri as Principal of the Kashi Syadwad Mahavidyalaya and he as Principal of the Katni Vidayalay evolved a useful Scheme of Co-ordination of education in the interest of both the institutions, which for the next 40 years both the Vidyalayas conducted the course of studies very successfuly. Pt. Jee used to get financial help for the Katni Vidyalay by attending important religious functions all over India.

In 1938 he started editing the PARVAR BANDHU which he did for five years. There after he edited 'Veersandesh' for two years. In the year 1947 he became Secretary of PARVAR SABHA and worked for 25 years. In 1953 he was elected Secretary of the Mathura Sangh and carried the responsibility with grace for 20 years. In 1955 he started editing the Jain Sandesh-which he did with the co-opera-

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

tion of Pt. Kailash Chand jee Shastri up to 1969. Later he became the president of Varni Granthmala and even today he is a member of this body, which is being run by Siddhantacharva Pandit Phool Chand jee Shastri.

He was instrumental in the formation of many other religious and educational trusts which are now doing very useful services to the society. He remained president of the Kundalpur-Chetra for 6 years. He openly acknowledges the help given to him all his life by Singhi Kanhaiya lal Girdhari lal jee and his entire family not only to him personally but also for the Katni Vidyalay.

For the last 12 years, Pandit jee retired from active service and is living at Kundalpur Udasin Ashram for the attainment of spiritual peace and happiness. He is now 89 years old, and the Samaj has honoured itself by honouring Pandit jee.

Pandit jee says that his first Guru was Pt. Babu lal jee of Katni. He remember with gratitude Pandit Banshidhar jee, Pt. Devkinandan jee and pt. Jagarnath jee Shastri.

The Jain Samaj will never forget this greatman who dedicated all his life, with religious devotion, for the spread of education in general and Jain religion in particular. He also was instrumental in the opening of many educational Institutions including Gurukal at Khudi, Gurukul at Alora and Vidvat Parishad etc.

Pandit Jaganmohan lal Shastri 'Sadhuvad Granth' which was presented to him in the year 1990 by the Sadhuwad Samiti Kundalpur has been very ably edited by the board of 6 Schelars and the managing editer–Dr. Sudarshan lal Jain of Varanasi . It has been priced at Rs. 201/- and contains largs number of very useful Articles by reputed Scholars from All over India. It is worthy of being in the libraries of all the universities in India. The publishers also deserve complinets including the donors and advertisers who met the cost of this valuable publication. This useful book is available from Pandit Jagnmohan lal Shastri Sadhuvad Samiti Kundalpur-Jain Kendra Rawa-486001 (M. P.)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Jains In Modern Society

Dr. Jagdishchandra Jain

In the first two decades of the twentieth century the Jain community had to meet with numerous religious and social movements. In the beginning of the century, orthodox Jains were not in favour of printing religious books, they preferred reading hand-written manuscripts in temples. Reading printed books was not considered commendable.

Here the name of Babu Surajbhan Vakil (1868-1945) of Nakuḍ, district Saharanpur (Uttar Pradesh) is at the top of the list. After acquiring his law degree he started practising at Deoband, district Saharanpur, but later, in order to serve the community he gave up his practice and went on a tour meeting people. He strongly favoured printing of books so that the knowledge could reach a common man. There was strong opposition from traditional people to his views but he did not care. The Anti-Scripture-Printing Movement declared that the printed śāstras should not even be touched and their admission in temples be banned. Babu Surajdhan Vakil started publishing Jain Patrikā, he also published other Jain works. He had a passion to carry out religious and social reforms in the Jain community which he continued to do zealously for a long period of 55 years.

Brahmachari Sitalprasad (1879-1942) was still another reformer of extraordinary zeal. In order to propagate his views regarding social changes, he travelled from one part of India to another. He also founded an organisation called the Sanātan Jain Samāj (Immortal Jain Society). He edited the Jain Mitra continuously for 20 years which was founded by Pandit Gopaldas Baraiyya. He favoured widow remarriage for which he propagated extensivly. The marriage of a widow was considered a taboo in those days amongst Jains.

Raychandbhai Mehata, better known as Rayachandbhai (1869-1901) was born in Kathiawad. He was a great genius, he died at a young age of 31. He was a product of Vaiṣṇavism and Jainism, his

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

grandmother being a Vaiṣṇava and mother a Sthānakavāsī Jain. He was a layman, yet lived like a saint detached from the worldly pleasures. He had the capacity to attend to a hundred things at a time therefore he was known as śatāvadhānī. As a man of genious he composed his Mokṣamālā (Wreath of Emancipation) containing 108 spirutual lessons in a span of only 3 days when he was just 16. His another illustrious work is the Ātma-siddih (Self Realisation), comprising 142 stanzas in Gujarati which he was able to compose within an hour and a half at the age of 29. Besides, he has written numerous letters to his devotees from time to time in reply to their queries as well describing the state of his mind. These spiritual letters form a part of his literature and have unique place in Indian literature. This includes a letter from Mahatma Gandhi which he wrote to Rayachandbhai from London in order to remove his doubt regarding Hinduism. Throughout his letters he has stated with emphasis that he did not belong to any particular sect as such. In one of his letters he has called himself as the 25th Tīrtahṅkara after Mahavira. He is also inclined to admit all-powerful God as a creator of Universe (which goes against the tenet of Jainism). At the age of 21 he came to Bombay and joined a jeweller's firm in partenership. He was very honest and straight forward in his dealings with his customers. He was known for his austerities, though he did not favour ascetic practices of Jain sādhus. Shri Rayachandra Jain Shastramala (Series of publishing Jain works in memory of Shrimad Rayachandra) was founded in Bombay which has published a large number of important Jain works. Rayachandrabhai has exercised a great influnce the life of Mahatma Gnadhi as stated earlier.

Pandit Gopaldas Baraiya (1866-1917) was not only a reformer but also he did lot of work in the sphere of education, particularly by establishing the Jain Siddhanta Vidyalaya in a remote place at morena (old Gwalior State, now in Medhya Pradesh). The well known pandits of repute were appointed in the Institute and a large number of educated young men were produced from here. Panditji was a man of progressive views. He founded the Digambara Jain Sabha in 1882 and started the publicatition of the Jain Mitra in 1900.

Poet Banārsīdās (1586-1643) was a resident of Jaunpur (Uttar pradesh), a contemporary of Emperor Akbar. He was a pupil of Yati

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Bhānucandra of Kharatara gaccha of the Svetāmbara sect. He was a trader and in order to acqnire wealth he travelled to far off places but without success. He was against the laxity on the part of the Bhaṭṭārakas. He did not associate himself either with the Digambaras or the Svetāmbaras, he called himself an adhyātmi (believing in spiritualism) or the seek r of truth. His sect was known as Vārāṇasīya mata (the sect of Vārāṇasī or Banārasī). Interestingly, most of the followers of the sect were the Svetāmbaras, though later, the tenets of the sect became a subject of criticism by their teachers. The poet has written his autobiography, entitled "the Ardha-kathānaka" which was completed in 1641 A. D. where in he has provided fascinating description of his life struggle. He was a follower of niścaya-naya or the nonconventional or absolute point of view, admitted by ācarya Kundakunda He has composed the Nātaka-samaya-sāra in 727 poetical stanzas based on the Samaya-sāra of Kundakunda. Interestingly, this work is quite popular among Svetāmbaras and was published by Bhimsi Manek, a Svetāmbara, with Gujarati commentary in 1876. Later Agra became a centre of his activities where the poet used to have discussions with his friends and followers. After the poet's death, one of his followers Kunvarpāl became a guru of the sect.

Babu Devakumar (1877-1908), known as rājarṣi (the roya saint), was the grandson of the well known Babu Prabhudas, a philanthropist and a scholar of Sanskrit and Jain literature. He died at a young age of 31. He was an enthusiastic personality always keeping in mind those who were deserving and needy, It was he who laid down the foundation of the Syadvada Mahavidyalaya, Kashi in 1905 which later produced numerous Jain pandits and scholars of Jainism who are working at varions important posts at present. The site of the Vidyalaya, was originally a residential house of his grandfather, located at Bhadainighat (or Prabhu ghat) on the magestic bank of the Gaṅgā. This site was generously donated by Devakumarji for the use of the educational institute. Maharṣi Devakumar was a silent worker with a will to bring about social changes in the community. He was well aware of the harmful customs superstitious beliefs, illiteracy, the rights of women, the pitiable condition of widows and domination of ritualism under the guise of religious practices. He tried to remove these abstacles from the Jain society for which he never hesitated to give magnificient donations. He took initiative to

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

form a Jain Youngmen's Association (1901), the Central Jain Publishing House (1902), Arrah Nagari Pracharini Sabha (1907), Jain Bālā-Vishrām Arrah (1907) and the Jain Siddhanta Bhavan (Central Jain Oriental Library (1908). He was associated with various Jain organisations all over India. He made a trip of South India in 1906 in order to collect important manuscripts scattered here and there, including some rare ones on palmleaf. Out of these, some have been published in Sanskrit, Prakrit, Apabhraṁśa and Hindi by the institvte. Recently, a beautiful edition of the illustrated Jain *Rāmāyaṇa* has been pulished. The Institute is also publishing the Jain Siddhanta Bhaskara-cum-Jain Antiquary, a bi-annual Journal from 1913. Devakumarji was an editor of the Jain Gazette, started from Arrah with the object of creating in the Jain community. His activities were not confined only to the Jain community, he had his active sympathy for the National Freedom Movement of the country and had an opportunity of coming into contact with national leaders of renown. At present Babu Subodhkumar Jain the illustrious son of Babu Nirmalkumar Jain, son of rājarṣi Devakumarji, is occupied in carrying out the project started by his forefathers.

*Excerpts from 'Modern Religious Movements' to be edited by Professor Robert D. Baird, Professor of History of Religions, the University of Iowa, USA (third edition), to be published soon by Manohar Publishers and Distributors, New Delhi.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Jainism and Nepal

H. C. Golchha

According to Jaina literature, Jaina religion was known as Arhat Dharma in ages past. The founder of Arhat Dharma was the first Tīrthaṅkara Bhagavān Ṛṣabhadeva. Lord Ṛṣabha Deva is also known as the propounder of human civilization and according to Śrīmad Bhāgvata he is considered as the eighth incarnation among the twenty four incarnations of Viṣṇu. It is noteworthy, that Jainas do not believe in God's Incarnation.

As per the old scriptures, the name of India as Bharat Varṣa has been derived from the name of the Emperor Bharata, the eldest son of Ṛṣabha Deva. According to fifth sk*a*ndha of Srīmad Bhāgavata, Bharat performed the penance in Pulhāśrama on the banks of the holy river Kālī Gaṇḍakī in the Harihara Kṣetra of Nepal The world famous collosus of his younger brother Bāhubalī known as Gommaṭeśvara' is at Śravaṇa Belagola in Karnataka State of India.

In the series of 24 Tīrthaṅkaras, the nineteenth Tīrthaṅkara Bhagavān Mallinātha was born at Mithilāpuri in Nepal. The twenty-first in the Tīrthaṅkara series, Bhagavān Naminātha was also belived to have been born at the same Mithilāpurī sometime around Dvāpara yuga.

The mention of the twentythird Tīrthaṅkara Bhagavān Parśvanātha is found in all books of ancient histories. The 24th and last Tīrthaṅkara Bhagavān Mahāvīra was born only few years before Bhagavāna Gautama Budhha, and propounded the religion of pancayāma or five mahāvratas inclusive of the four-fold tenets of Pārśvanātha. The modern form of Jaina religion is attributed to Lord Mahāvīra.

Many historians say that the birth of Lord Mahāvīra took place at a place known as Vaiśālī near Muzaffarpur (Bihar.) not very far from the present boundaries of Nepal. In the Jain scriptures, it is stated that the birth place of Mahāvīra is at a locality called Kṣatriya Kuṇḍapura. but the historians are not unanimous about the whereab-

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

outs of this Kṣatriya Kuṇḍapura. In the opinion of Nepal's ex-Prim Minister General Matrika Prasad Koirala, the locality of that city could be where now lies the remains of a city near Simrongarh of Bara District. (vide the preface written by Sri Koirala of the book 'Mahāvīr-ke Thiye') In this way, it would be a very noteworthy fact if Nepal be the birth place of both the great propounders of ahimsā (non-violence) namely, the Buddha and Mahāvīra.

About two centuries after Mahāvīra's nirvāṇa when the scriptural knowledge of the pūrvas was on the verge of collapse, due to a famine previaling in eastern India, the only remaining Saint with complete knowledge of the pūrvas, was Śrutakevalī Bhadrabāhu who was under 'mahāprāṇa' meditation in the caves of Nepal. It was widely discussed at the learned assembly of Jaina monks at Pāṭaliputra who sent a group of 500 scholarly monks under the leadership of Sthūlabhadra to Nepal to meet Bhadrabāhu and learn the pūrvas from him

Apart from this, there are ample evidenes about the continuance of jaina religion in Nepal throughout the ages. There are a number of ancient Jaina manuscripts in the National Archives in Kathmandu, among which the hand-written palm-leaf manuscript of Praśna Vyākaraṇa is a rare collection. The local society 'Nepal Jain Parishad has made several copies of it and has sent them to various Jain scholars and libraries. The reported presence of the images of the Jain Tīrthankaras in the holy shrines of Paśupatinātha is a ready confirmation of the prevalence of Jainisim in Nepal. In fact, the scientific study of Jaina Archeological Monuments has not yet been undertaken in Nepal so far. It is believed that many additional evidences can be brought to light by such scientific study in excavations.

Centuries past after the nirvāṇa of Lord Mahāvīra, Jainism got divided primarily into two main branches : (a) Digambara-whose monks discarded clothes, as these were regarded as parigraha which stood against the vow of non-possession and (b) Śvetāmbara—whose monks and nuns accepted clothes as essential parigraha which should not be discarded because of civil consideration. Later the Śvetāmbaras got further sub divided into Mūrti Pūjak (believers in idol worship), Sthānakvāsī (non-believers in idol worship) and Terāpanthi (also non believers in idol worship). Although jaina community is a minority in Nepal, followers of all the four sects are present. But

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

due to their large number, the Śvetāmbar Terāpanthī sect is prominent.

The followers of Jain religion are spread mostly in eastern and central regions of Nepal. In western region they are comparatively low in number. There are local associations of Jains in Morang, Sunsari, Jhapa, Saptari, Parsa and Kathmandu. A Jain Centre named 'Bhagavān Mahāvīr Jain Niketan', meant prmarily for religious purpo ses, has been built in Kathmandu at a cost of Rs. 10 million and was recently inagurated by prime Minister Girija Prasad Koirala in the month of July 1991. It has a conference hall, 24 guest rooms and various other facilities. A temple is yet to be built in the centre. However, there is a small Gṛha Mandir (House-temple) located in the premises of Golchha Honse at Ganabahal in Kathmandu where local and visiting Jaina devotees offer their prayers. In Kathmandu, all the four Jaina communities are members of a single association know as 'Nepal Jain Parishad' where various religious events of different sects are collectively organised.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

THE ILLUSTRATED

JAIN RĀMĀYANA

It is often forgotten that Jainas have not only preserved and kept alive Indian Protohistorical traditions like, Puranic, Brahminism, but considerably helped in popularising and immortalising Rama in its literature from the earliest times. The Jaina Ramayana, howeyer, makes significant departures from more traditional versions. For instance, according to this version, Rama is a direct descendant of the Tirthankara Rishabhadeva.

Of the 250 compositions, big and small, 25 are in Prakrit, 71 in Sanskrit, 22 in Apabhramsha, 82 in Hindi, 17 in Kanada and a few in Tamil, Gujarati, Marathi and Urdu. This publication, the *Rama Yasho-Rasayana*, is composed in Hindi verse by a Jain ascetic, Keshrajayati around 1623 A. D. Its chief value lies in the 213 coloured miniature paintings illustrating the story.

Published by
Devakumar Jain Oriental Library, ARRAH
Price 850/- only

Ac. Gunratnasuri MS
Jin Gun Aradhak Trust

उत्कृष्ट वर्ण नव हेम रसों के जैसे, देह-प्रभा-वलय-संगम-लुप्त-दीप्ति।
धारा सुघृत से करें अरहन्त पद की, जो हैं सुगन्ध गुण से अनुमेय सर्वदा ॥९॥

(ॐ ह्रीं............घृत से अभिषेक करता हूँ।)

सम्पूर्णिमा-शरद-चन्द्र-समान ज्योति, या दूध के सुयश का अपना प्रवाह।
ऐसे सुदुग्ध से कर जिन देव धारा, मेरे कुचित्त दुर्भाव बने समुज्वल ॥ १० ॥

(ॐ ह्रीं ....दूध से अभिषेक करता हूँ।)

क्षीर समुद्र जल की वह फेन राशि, कि शुक्ल कान्ति जिसके सम कुछ नहीं है।
ऐसे दही से करें प्रभु की सुधारा, देवें हमें चिर सुवाँछित सिद्ध-पद को ॥ ११ ॥

(ॐ ह्रीं ....दही से अभिषेक करता हूँ।)

भक्ति विभोर कर जोर ललाट पद पर, देवेन्द्र और असुरेन्द्र व पृथ्वि-नाथ।
तत्काल निर्मित हुई यह इक्षु धारा, सद्यः पवित्र कर दें हम सब जनों को ॥ १२ ॥

(ॐ ह्रीं............ईख के रस से अभिषेक करता हूँ।)

संस्थापना कर चुके दधि-दूध-घी की, सर्वौषधि अब करें अरहन्त धारा।
कालेय कुंकुम मिला कर के सुएला, धारा समुज्वल करें जिन देव प्रभु की ॥१३

(ॐ ह्रीं .....सर्वौषधि से अभिषेक करता हूँ।)

दधि शुभ्र अक्षत मनोहर पुष्प दीप, अर्पित करें हम सभी करके सुसज्जित।
त्रैलोक्य मंगल सुखालय काम-दाह, मैं आरती यह करूं नित ही विभो हे ॥ १४ ॥

(मंगल आरती)

द्रव्यः सुगन्ध कपूर सुवास जल से, आमोदवासित सभी चारों दिशाएँ।
मिश्रित हुए सुजलसे जिन पुँगवों की, त्रैलोक्य पावन करे अभिषेक हम सभी ॥१५

(ॐ ह्रीं .....चारों कलश से अभिषेक करता हूँ)

इष्ट (म) मनोरथ सहस्र 'सुबोध' जन की, शोभा बने झलकते इन सब कलश में।
संसार सागर हमें जो पार कर दें, ऐसे त्रिलोकपति का अभिषेक करते ॥ १६ ॥

(ॐ ह्रीं .....पूर्ण कलश से अभिषेक करता हूँ।)

हिन्दी रूपान्तर—सुबोधकुमार जैन

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

नये प्रकाशन

जैन सिद्धान्त भवन ग्रन्थावली, भाग–१, २

(श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा के प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की विस्तृत सूची)

सम्पादक–डॉ. ऋषभचन्द्र फौजदार

प्रति भाग मूल्य–१३५/-

जैन रामायण

(मुनिकेशराज कृत सचित्र रामयशोरसायन रास)

जैन सिद्धान्त भवन, आरा की विशिष्ट पाण्डुलिपि का यथावत् प्रकाशन

सम्पादक–डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन

मूल्य : ८५०/-

श्री देवकुमार जैन ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट

आरा (बिहार)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust